2.5

# श्री बुधकौशिक-विरचितं



# श्री रामरक्षा-स्तोत्रम्

(श्रीमुद्गलाचार्य विरचित संस्कृतभाष्योपेतम्)

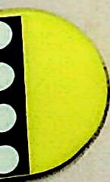
हिन्दी भाष्यानुवादक

**पं० श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग**


## श्रीमठ

**जगद्गुरु-रामानन्दाचार्य पीठ**

**पंचगंगा, काशी, वाराणसी**



# श्री बुधकौशिक-विरचितं
# श्रीरामरक्षा-स्तोत्रम्

(श्रीमुद्गलाचार्य विरचित संस्कृतभाष्योपेतम्)

अनुवादक

**पं० श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग**



प्रकाशक

**जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक न्यास**

श्रीमठ, पंचगंगा घाट, काशी (वाराणसी) २२१००१ (उ० प्र०)

प्रकाशक :-

जगद्गुरू रामानन्दाचार्य स्मारक न्यास
श्रीमठ, पंचगंगा घाट, काशी

मूल्य - पच्चीस रूपये



मुद्रक -
खण्डेलवाल प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स
मानमन्दिर, दशाश्वमेध, वाराणसी
दूरभाष : ३९२४८७/३२६११२

# नमोऽस्तु रामाय

श्रीमुद्गलाचार्य द्वारा विरचित भाष्य तथा उसके हिन्दी अनुवाद के साथ श्रीरामरक्षास्तोत्र कों जगद्गुरु रामानंदाचार्य सप्तशताब्दी महोत्सव-प्रसंग पर प्रकाशित कर मुमुक्षुजनों के करकमलों में प्रदान करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। रामरक्षास्तोत्र की संस्कृत टीकाओं में श्रीमुद्गलाचार्यप्रणीत भाष्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है। प्रस्तुत भाष्य विस्तृत, भावगंभीर एवं प्रसन्न है। स्तवन के साथ स्तोतव्य की भावना, पूजा व उपासना को और भी अधिक आशुफलदायिनी बनाती है। अतएव भाष्य तथा उसके अनुवाद से अन्वितकर स्तोत्र को प्रकाशित किया गया है।

वैदिक सनातन धर्म में स्तोत्रपाठ की अनादि प्रक्रिया है। यह पूर्ण पूजनविधि का एक अंग है। स्तुति के बिना तो पूजा अधूरी ही है। इसका संपादन सकाम तथा निष्काम दोनों ही भक्त करते हैं– सकाम तत् तत् फलों की प्राप्ति के लिए तथा निष्काम परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए। परम प्रभु स्तुति से प्रसन्न होकर तत् तत् फलों को तत् तत् भक्तों को प्रदान करते हैं।

संस्कृत वाङ्मय स्तोत्रों से भरपूर है। सभी की अपनी महत्ता एवं उपादेयता है; परंतु श्रीरामरक्षास्तोत्र की सार्वभौमिकता, सर्वश्रेष्ठ विश्वसनीयता तथा अनुपम उपादेयता अतुलनीय है। रामरक्षास्तोत्र का पाठ वैदिक सनातनधर्मव्यापी है।

यद्यपि परमेश्वर ही जीवों को कर्मों के अनुसार फल का विधान करता है, क्योंकि वह पालक है। परमेश्वर के पालक स्वरूपों में श्रीराम का स्वरूप सर्वाधिक दीर्घायु, सरल, भक्तवत्सल तथा आकर्षक है। अतएव श्रीराम जी से ही भक्तजन अपनी रक्षा की गुहार लगाने में

सहज रूप से आकृष्ट होते हैं। रामरक्षास्तोत्र के सर्वाधिक प्रसारित-प्रचारित होने के पीछे यही मूल भावना है। अन्यथा फलप्रदायक तत् तत् विष्णु स्वरूप तो अविशेष हैं।

मानवजीवन की लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही यात्राओं में विकल्पविहीन भूमिका है। अतएव इसकी सर्वविध सुरक्षा धन्यता संपादन के लिए परम आवश्यक है, अन्यथा असुरक्षित जीवन कभी भी परम लक्ष्य की प्राप्ति के बिना ही डूब सकता है। तभी तो परम कारुणिक भगवान् शंकर ने संसार के समस्त जीवों के लिए (सर्वविधरक्षाकवच प्रदान करने के लिए) परम ऋषि विश्वामित्रजी को निमित्त बना कर रामरक्षास्तोत्र का उपदेश किया। इस कवच से मण्डित होकर हमें अपनी दिव्य जीवन यात्रा को संपादित करना चाहिए।

जीवन को सर्वविध अभयता (सर्वसुरक्षा) प्रदान करने वाले अन्यान्य मार्गों का भी श्रवण शास्त्रों में होता है; तथापि रामरक्षास्तोत्र की सार्थकता व उपादेयता अप्रभावित है। क्योंकि रामरक्षास्तोत्र का पाठ शनैः शनैः अकिञ्चनत्व तथा अनन्यत्व का संपादन करते हुए सर्वश्रेष्ठ मोक्षसाधन प्रपत्ति का संपादन करता है, जहाँ स्तवन रुक जाता है तथा परम प्रभु स्वयं ही सर्वविध सुरक्षाकवच तैयार करते हैं एवं परम फल प्रदान करते हैं।

इस ग्रंथ को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में सभी सहयोगी जनों के लिए मैं सर्वावतारी परम प्रभु श्रीराम जी के चरणों में प्रार्थी हूँ कि इनका शेष जीवन आपके लिए ही हो।

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

रामनरेशाचार्य

|| श्रीः ||

# किमपि नैवेद्यम्

ध्यायेन्नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम्।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम्।।
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तंचरांतकम्।
स्वलीलया जगत् त्रातुमवतीर्णमजं विभुम्।।

श्रीरामरक्षास्तोत्र पर उपलब्ध प्राचीन संस्कृतभाष्य अत्यन्त प्रौढ़, भावगम्भीर और विद्वत्तापूर्ण है। इसे स्वतन्त्र मौलिक प्रबन्ध कहना ही उपयुक्त है। भाष्य की पुष्पिका में वे स्वयं को पदवाक्यप्रमाणपारावार–धुरीण श्रीमद्भगवद्भक्त कहते हैं। उनके द्वारा विरचित 'श्रीरामसूक्तिसागर' नामक ग्रन्थ के श्लोक इस भाष्य में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भाष्यकार का परिचय हमें प्राप्त नहीं है। आपने इसकी व्याख्या दो प्रकार से की है– प्रातीतिक और पारमार्थिक। प्रथम व्याख्या के अनुसार पंचश्लोकी रामकवच में सम्पूर्ण रामायण है, जो प्रातिभासिक है। परमार्थपरक व्याख्या के अनुसार यह परब्रह्म परमात्मा की लीला, माया है। अहंप्रत्ययवेद्य अहंकार ही रावण है, जो चिदचित्स्वरूप है। रावणवध का अर्थ है अविद्या का आवरण हटते ही अहंकार का विनाश।

प्रस्तुत संस्करण – इस स्तोत्र का प्रचार-प्रसार राष्ट्रव्यापी है। मुद्गलाचार्यकृत भाष्य इस स्तोत्र के अर्थप्रकाशन में अत्यंत सहायक है। इसका प्रथम प्रकाशन वि० सं १९६४ में पं० केशवदत्त त्रिपाठी (पर्वतीय) द्वारा श्रीराजराजेश्वरी यंत्रालय से मुद्रित करा कर किया गया था। उसका सम्पादन म० म० पं० नित्यानन्द पर्वतीय जी ने किया

था। उसके कतिपय पृष्ठ मुझे अपने पुस्तक-संग्रह में प्राप्त हुए। सम्पूर्ण ग्रन्थ को देखने की इच्छा होने पर मुझे उसका द्वितीय संस्करण राष्ट्रपंडित गोपालदत्त पाण्डेय जी से प्राप्त हुआ। आप श्रद्धेय पं० नित्यानंद पंत के दौहित्र और मेरे परम श्रद्धाभाजन हैं। इस संस्करण का भाषापरिष्कार करने में मुझे आप का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। द्वितीय संस्करण ही इस प्रयास का आधार है, इस संस्करण में संस्कृत भाष्य के साथ ही अगस्त्य संहिता का श्रीरामरक्षायन्त्रराज संलग्न है। इसके पुनः प्रकाशन के लिए काशी के पंचगंगाघाट स्थित सगुण-निर्गुण रामभक्ति धारा के मध्यकालीन गोमुख श्रीमठ (आद्यजगद्गुरु रामानन्दाचार्यपीठ) पदाभिषिक्त परम श्रद्धाभाजन श्रीरामनरेशाचार्य जी महाराज से इस जीव ने अनुरोध किया तथा उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी। परिणामस्वरूप यह अनुवाद प्रस्तुत हो सका, अतः आचार्य-चरणों में मेरी सादर प्रणामाञ्जलि निवेदित है, जिसके फलस्वरूप मैं इस वाङ्मयी श्रीरामपादसेवा की ओर प्रवृत्त हुआ। मुद्गलभाष्य की चिन्तनिका में मुझे आत्मीय मित्रबन्धु सर्वश्री पं० गणपति ऐताल, पं० लक्ष्मीकान्त खणंग, पं विश्वेश्वर शास्त्री द्राविड और पं० गणेश्वर शास्त्री द्राविड का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इन सबका मेरे हृदय में स्थान है। इनके प्रति मात्र कृतज्ञताज्ञापन वंचना होगी।

इस संस्करण के परिशिष्ट में आनन्दरामायणसम्मत रामरक्षाध्याय संलग्न है। आरम्भ में पाठ करने के लिए रामरक्षास्तोत्र (मूलमात्र) सम्मिलित है। सुधी रामभक्त इसका नीरक्षीरविवेक कर सकते हैं।

विनयावनत

जगन्नाथशास्त्री तैलंग

# विषयानुक्रमः

# बुधकौशिकविरचितम्

# श्रीरामरक्षास्तोत्रम् (मूलम्)

## (वज्रपञ्जरं नाम रामकवचम्)

।।श्रीगणेशाय नमः।।

(ॐ) अस्य श्रीरामरक्षास्तोत्रमन्त्रस्य बुधकौशिक ऋषिः।
श्रीसीतारामचन्द्रो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। सीता शक्तिः।
श्रीमद्धनुमान् कीलकम्। श्रीरामचन्द्रप्रीत्यर्थे रामरक्षास्तोत्रमन्त्रजप विनियोगः।

।।अथ ध्यानम्।।

ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्धपद्मासनस्थं
पीतं वासो वसानं नवकमलदलस्पर्धिनेत्रं प्रसन्नम्।
वामाङ्कारूढसीतामुखकमलमिलल्लोचनं नीरदाभं
नानालङ्कारदीप्तं दधतमुरुजटामण्डनं रामचन्द्रम्।।१।।

।। इति ध्यानम्।।

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।।२।।
ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम्।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम्।।३।।
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तंचरान्तकम्।
स्वलीलया जगत् त्रातुमवतीर्णमजं विभुम्।
रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः पापघ्नीं सर्वकामदाम्।।४।।

मुख्यं कवचम्

(ॐ) शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः।।
कौसल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती।।५।।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः।
जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः।।६।।
स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुकः।

करौ सीतापतिः पातु हृदयं जामदग्न्यजित्।।७।।
मध्यं पातु खरध्वंसी नाभिं जाम्बवदाश्रयः।
सुग्रीवेशः कटिं पातु सक्थिनीं हनुमत्प्रभुः।।८।।
ऊरू रघूत्तमः पातु रक्षःकुलविनाशकृत्।
जानुनी सेतुकृत् पातु जङ्घे दशमुखान्तकः।
पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः।।९।।

फलश्रुतिः

एतां रामबलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत्।
स चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत्।।१०।।
पातालभूतलव्योमचारिणश्छद्मचारिणः।
न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामभिः।।११।।
रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन्।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति।।१२।।
जगज्जेत्रैकमन्त्रेण रामनाम्नाभिरक्षितम्।
यः कण्ठे धारयेत्तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः।।१३।।
वज्रपंजरनामेदं यो रामकवचं स्मरेत्।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमंगलम्।।१४।।
आदिष्टवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः।
तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः।।१५।।

रामस्तुतिः

आरामः कल्पवृक्षाणां विरामः सकलापदाम्।
अभिरामस्त्रिलोकानां रामः श्रीमान् स नः प्रभुः।।१६।।
तरुणौ रूपसंपन्नौ सुकुमारौ महाबलौ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ।।१७।।
फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।।१८।।

शरण्यौ सर्वसत्त्वानां श्रेष्ठौ सर्वधनुष्मताम् ।
रक्षःकुलनिहन्तारौ त्रायेतां नो रघूत्तमौ ।।१९।।
आत्तसज्जधनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्गसङ्गिनौ ।
रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतः पथि सदैव गच्छताम् ।।२०।।
सन्नद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा ।
गच्छन् मनोरथोऽस्माकं रामः पातु सलक्ष्मणः ।।२१।।
रामो दाशरथिः शूरो लक्ष्मणानुचरो बली ।
काकुत्स्थः पुरुषः पूर्णः कौसल्येयो रघूत्तमः ।।२२।।
वेदान्तवेद्यो यज्ञेशः पुराणपुरुषोत्तमः ।
जानकीवल्लभः श्रीमानप्रमेयपराक्रमः ।।२३।।
इत्येतानि जपन्नित्यं मद्भक्तं श्रद्धयाऽन्वितः ।
अश्वमेधाधिकं पुण्यं संप्राप्नोति न संशयः ।।२४।।
रामं दूर्वादलश्यामं पद्माक्षं पीतवाससम् ।
स्तुवन्ति नामभिर्दिव्यैर्न ते संसारिणो नरः ।।२५।।
रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापतिं सुन्दरं
काकुत्स्थं करुणार्णवं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम् ।
राजेन्द्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्तिं
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम् ।।२६।।

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ।।२७।।
श्रीराम राम रणकर्कश राम राम
श्रीराम राम भरताग्रज राम राम ।
श्रीराम राम रघुनन्दन राम राम
श्रीराम राम शरणं भव राम राम ।।२८।।
श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि ।
श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि ।

श्रीरामचन्दचरणौ शरणं प्रपद्ये ।।२६।।
माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।।३०।।
दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे तु जनकात्मजा।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम्।।३१।।
लोकाभिरामं रणरङ्गधीरं राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम्।।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तं श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये।।३२।।
मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये।।३३।।
कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्।।३४।।
आपदामपहर्त्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्।।३५।।
भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्।
तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम्।।३६।।
रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम ! मामुद्धर।।३७।।
राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने।।३८।।
।। इति श्रीबुधकौशिकविरचितं श्रीरामरक्षास्तोत्रं संपूर्णम् ।।
।। ॐ तत्सत् श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।।

।। श्रीः ।।

*श्रीबुधकौशिकविरचितं*

# *श्रीरामरक्षास्तोत्रम्*

## *वज्रपंजरं नाम रामकवचम्*

*(भट्टश्रीमुद्गलाचार्यविरचितभाष्योपेतम्)*

(ॐ) अस्य श्रीरामरक्षास्तोत्रमन्त्रस्य बुधकौशिक ऋषिः । श्री[१]सीतारामचन्द्रो देवता । [२]अनुष्टुप् छन्दः । सीता शक्तिः ।[३] श्रीमद्धनुमान् कीलकम्[४]। श्रीरामचन्द्र[५]प्रीत्यर्थे रामरक्षास्तोत्रमन्त्र[६]जपे विनियोगः।

*।। अथ ध्यानम् ।।*

ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्धपद्मासनस्थं
पीतं वासो वसानं नवकमलदलस्पर्धिनेत्रं प्रसन्नम्।

---

*स्तोत्रार्थ :—यह रामरक्षास्तोत्र मन्त्रस्वरूप है। इसका साक्षात्कार करनेवाले मंत्रद्रष्टा ऋषि बुध (तत्त्वज्ञानी) कौशिक विश्वामित्र हैं। देवता श्रीसीतारामचन्द्र हैं। अनुष्टुप् छन्द है । इसकी शक्ति सीता है। श्रीहनुमान्जी कीलकस्वरूप हैं। इस स्तोत्रमंत्र का विनियोग श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिए करना चाहिए।*

*उस भगवान् रामचन्द्र का ध्यान करना चाहिए, जिनकी भुजाएँ घुटनों तक हैं, जिनके एक हाथ में धनुष और दूसरे हाथ में बाण हैं, जो पद्मासन लगाकर अवस्थित हैं, जिन्होंने पीतवस्त्र धारण किया हुआ है, जिनके नेत्र नीलकमल के समान हैं, जो प्रसन्नमुख*

---

१. नास्ति। २. रां इति बीजम्—अधिकम्। ३, ४, ५, ६, —नास्ति।

वामाङ्कारूढसीतामुखकमलमिलल्लोचनं नीरदाभं
नानालङ्कारदीप्तं दधतमुरुजटामण्डनं रामचन्द्रम्[1] ।।१।।

*।। इति ध्यानम् ।।*

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।।२।।

*श्रीमुद्गलाचार्यकृतं भाष्यम्*

*।। ॐ श्रीगणेशाय नमः ।।*

*नमस्कृत्य घनश्यामं रामं कामं यथामति ।*
*व्याख्यास्ये श्रेयसां सिद्ध्यै वज्रपंजरमादरात् ।।*

---

***हैं, जिनके वाम उत्संग में अवस्थित सीतामाता के मुखकमल के नेत्र अधखुले हैं, जिनकी कान्ति मेघ के समान श्यामवर्ण है, जो विविध अलंकारों से आलोकित हैं और जिन्होंने विस्तृत जटामण्डल का मुकुट धारण किया है।।१।।***

***श्री रघुनाथ राम जी का चरित्र सैकड़ों कोटि गुना विस्तीर्ण है। इसका एक–एक अक्षर महापातकों का नाश करनेवाला है।।२।।***

*श्रीमुद्गलाचार्यकृत भाष्य*

*।। ॐ श्रीगणेशाय नमः ।।*

*भाष्यार्थ – मैं मेघ के समान श्यामवर्ण श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार कर स्वेच्छया अपनी बुद्धि के अनुसार मोक्ष (श्रेयस्) की सिद्धि के लिए*

---

१. अस्य ध्यानश्लोकस्य स्थाने भिन्नं ध्यानमिदम् –
वामे कोदण्डदण्डं निजकरकमले दक्षिणे बाणमेकं
पश्चाद्भागे च नित्यं दधतमभिमतं सासितूणीरभारम्।
वामेऽवामे वसद्भ्यां सहमिलिततनुं जानकीलक्ष्मणाभ्यां।
श्यामं रामं भजेऽहं प्रणतजनमनःखेदविच्छेददक्षम्।।
आनन्दरामायणे पूर्वं ध्यानं, ततश्च विनियोगः ।

ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम्।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम्।।३।।

सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तञ्चरान्तकम्।
स्वलीलया जगत्त्रातुमवतीर्ण[1]मजं विभुम्।
रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः पापघ्नीं सर्वकामदाम्।।४।।

*इदं किल वज्रपञ्जराख्यं स्तोत्रं विद्वदनुजिघृक्षया पराद्वरात् स्वप्ने प्राप्य परमकारुणिकः कौशिकः त्रिविधतापतप्तमनसां पुंसां श्रेयःप्राप्तयेऽनिष्टनिवृत्तये च पठनीयत्वेनोपदिशति – ध्यात्वेत्यादिना।*

---

*सादर इस वज्रपंजरस्तोत्र की व्याख्या कर रहा हूँ ।*

*स्तोत्रार्थ :– बुद्धिमान् मनुष्य नीलकमल के समान श्यामवर्ण, नीलकमलों के समान नीलवर्ण नेत्रकमलों से सुशोभित, जनकतनया सीतामाता और लक्ष्मण के साथ विराजमान खड्ग, तरकश, धनुष, और बाण को हाथों में धारण करनेवाले, निशाचर राक्षसों के संहारकर्त्ता, अजन्मा, सर्वसमर्थ अथवा सर्वव्यापी होने पर भी जगत् का कल्याण करने के लिए अपनी लीला से अवतार लेनेवाले श्रीरामचन्द्रजी का प्रथम ध्यान करे और उसके अनन्तर समस्त पापों का विनाश करनेवाले और सम्पूर्ण मनोरथों को परिपूर्ण करनेवाले श्रीरामरक्षास्तोत्रमन्त्र का पाठ करे ।। ३।। ४।।*

भाष्यार्थ :– परमदयालु कौशिक (विश्वामित्र) ऋषि ने इस वज्रपञ्जर नामक स्तोत्र को स्वप्न में आद्य उपदेष्टा परमशिव से उपदेश द्वारा ग्रहण किया था। विद्वानों पर अनुग्रह करने की इच्छा से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुःखों से संतप्त प्राणियों को

---

१. "आविर्भूतमि"ति पाठान्तरम् ।

*अत्र तावदियं योजना – "अजं विभुं नीलोत्पलदलश्यामत्वादिविशेषण–विशिष्टं रामं ध्यात्वा रामरक्षां पठेदिति। मन्त्रपाठस्य प्रतिपाद्यदेवतास्मृति–समकालत्वमेवागमप्रसिद्धमिति न "ध्यात्वे"त्यनेन ध्यानक्रियावसाने स्तोत्रपाठो विधीयते, किञ्च, न पाठारम्भोत्तरकालता ध्यानस्य, अपि तु ध्यानमारभ्य पाठः कार्यः इति सूचयति "ध्यात्वे"ति।*

*निमज्ज्य त्रिः पठेन्मन्त्रं मन्त्री पापविशुद्धये" इति प्रयोगोपपत्तेः।*

*न च समानकर्तृकत्वपूर्वकालत्वे इव पूर्वक्रियोपरतिं क्त्वाप्रत्योऽपेक्षते।*

---

मोक्ष की प्राप्ति हो तथा उनका अनिष्टनिवारण हो इसलिए "ध्यात्वा" इत्यादि द्वारा उस स्तोत्र के पाठ का उपदेश इस प्रकार दे रहे हैं।

इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार है– "अजं विभुं नीलोत्पलदल – श्यामत्वादिविशेषणविशिष्टं (नीलोत्पलदलश्यामं राजीवलोचनं जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितं सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तञ्चरान्तकं जगत् त्रातुम् स्वलीलया अवतीर्णं) रामं ध्यात्वा रामरक्षां पठेत् ।"

ध्यै+क्त्वा=ध्यात्वा प्रयोग का तात्पर्य यह नहीं है कि मन्त्रपाठ और मन्त्र में प्रतिपाद्य देवता का स्मरण दोनों एक समय एक साथ होना चाहिए, यह आगमप्रसिद्ध है। इसलिए ध्यानक्रिया के पश्चात् स्तोत्रपाठ का विधान किया गया है। पुनश्च, इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि पाठ आरम्भ करने के पश्चात् उसके अनन्तरवर्ती काल में ध्यान कर्तव्य है। वस्तुतः इसका आशय यह है कि ध्यान आरम्भ करके स्तोत्रपाठ करना कर्तव्य कोटि में है।

ध्यात्वा प्रयोग की संगति उसी प्रकार बैठती है, जिस प्रकार "निमज्ज्य त्रिः पठेत्" इत्यादि पद्यार्द्ध में "नि+मज्ज्+ल्यप् = निमज्ज्य" प्रयोग की संगति। (इस पद्यार्थ का भाव यह है – "मन्त्रवेत्ता प्रथम तीन बार स्नान करे और पश्चात् पापप्रक्षालन के लिए मन्त्रपाठ करे।")

*समानकालीनत्वाऽसम्भिन्नपूर्वापरकालीनत्वं विवक्षितमित्यत्र न किञ्चित् प्रमाणमस्ति। यद्यपि "ध्यायन्नीलोत्पलश्याममि"ति पाठे पूर्वोक्तोऽर्थः सुलभः, तथापि ध्यानपाठारम्भयोः पौर्वापर्यनियमे शास्त्रीयोऽयं नियमः किमप्यपूर्वमपेक्षते।*

*न चाऽनयोरङ्गाङ्गिभावः, तदावेदकश्रुत्यादिप्रमाणाभावात्। समुच्चितयोः फलसम्बन्धस्य अन्यत्र दर्शनाच्च।*

---

जिस प्रकार (दो क्रियाओं का) समान कर्ता होने पर पूर्व–पश्चात् कालक्रम का विचार किया जाता है, उसी प्रकार उन दोनों क्रियाओं में "क्त्वा" प्रत्ययान्त क्रियापद अर्थपरामर्श की दृष्टि से अनन्तरवर्ती क्रिया की अपेक्षा पूर्वक्रिया में विश्राम की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि यहां पर समान काल में होने वाली दो क्रियाओं का पूर्वापरक्रम विवक्षित है, इसमें कोई साधक प्रमाण नहीं है। यद्यपि (ध्यै+शतृ = ध्यानम्) शतृप्रत्ययान्त "ध्यायन्नीलोत्पलश्यामम्" पाठ स्वीकार करने पर पूर्वोक्त अर्थ सुलभ है, तथापि ध्यान (ध्यात्वा) का तात्पर्य यह नहीं है कि पाठ आरम्भ करने के पश्चात् उसके अनन्तरवर्ती काल में ध्यान कर्तव्य है। वस्तुतः इसका आशय यह है कि ध्यान आरम्भ करके स्तोत्रपाठ करना कर्तव्यकोटि में है।

और स्तोत्रपाठ के आरम्भ (पठेत्) में पूर्वापरक्रम का नियम निर्धारण करने में पाठ के पूर्व ध्यान का शास्त्रीय विधान किसी "अपूर्व" फल की ओर संकेत कर रहा है।

"ध्यात्वा" और "पठेत्" इन दो क्रियापदों का अङ्गाङ्गिभाव भी नहीं है। (प्रधान क्रियापद "पठेत्" का "ध्यात्वा" क्रियापद अंग भी नहीं है। (क्योंकि इसको सूचित करनेवाला कोई प्रमाणवचन, श्रुति – स्मृति – आगम – पुराण आदि में प्राप्त नहीं होता) इसके विपरीत दो भिन्न एककालिक क्रियापदों का फल के साथ सम्बन्ध प्रमाणस्वरूप वचन

*तथा च भगवद्वाक्यम् –*
*ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।*
*यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।*
*(गीता ८/१३) इति ।*

*न च स्वतन्त्रयोरेव पूर्वापरकालानुष्ठानप्रतिपादनपरमेतत्, दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन "यजेतेतिवदि" ति युक्तम्। 'स्वातन्त्र्येणाऽप्राप्तत्वात्' । न च पाठोन्मुखे मनसि ध्यानाशक्तिर्ध्यानोन्मुखे च पाठाशक्तिरिति नानयोरेककालता सम्भवतीति वाच्यम्। निपुणमनसामनेकावधानदर्शनात्।*

---

अन्यत्र प्राप्त है। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" इत्यादि उपदेशवाक्य उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है। (भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरे (परब्रह्म परमात्मा के) वांचक ओंकार का उच्चारण मेरा (परब्रह्म परमात्मा का) चिन्तन करते हुए जो जीव देहत्यागपूर्वक प्रयाण करता है, वह जीव परम उत्कृष्ट गति (मोक्ष) प्राप्त करता है। (इस भगवद्वाक्य में शतृप्रत्ययान्त "व्याहरन्" (वि+हृ+शतृ) और अनुस्मरन् (अनु+स्मृ+शतृ) इन दो एककालिक क्रियापदों का फलद्योतक "याति"क्रियापद के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित है। ("ध्यायन्नीलोत्पलश्यामम्" यह शतृप्रत्ययान्त पाठ स्वीकार करने पर उस "अपूर्व" फल का संकेत नहीं मिलता, जो "ध्यात्वा पठेत्" पाठ से पूर्वापरक्रम के शास्त्रीय विधान का ज्ञान होने पर मिलता है। )

यह कथन भी समीचीन नहीं है कि ये दो स्वतंत्र क्रियापद हैं, जिनमें ध्यान का पूर्व में और उसके अनन्तर स्तोत्रपाठ का विधान किया गया है। जिस प्रकार "दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत" इस विधिवाक्य में प्रथम दर्श–पूर्णमास–इष्टि सम्पादन और उसके पश्चात् स्वतंत्र रूप से सोमयाग का विधान है। उसी प्रकार यहाँ स्वतंत्र रूप से पूर्वापर अनुष्ठानक्रम का विधान नहीं है, (क्योंकि पूर्वोक्त

*स्तोत्रपाठस्य अधिकारी*

*अत एव "राजा राजसूयेने" तिवत् "प्राज्ञ" इत्यधिकारो विशेषतः।*

*वज्रपंजररामरक्षाशब्दयोः पर्यायात्वन्नस्मात्कृतोपक्रमो विरुद्धयते। रामरक्षाशब्दव्युत्पत्तिं चाग्रे दर्शयिष्यामः।*

---

दोनों क्रियापद स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त न होकर परस्पर पूरक हैं। मन्त्रपाठ की ओर उन्मुख मन ध्यान में असमर्थ होता है और ध्यान की ओर उन्मुख मन स्तोत्रपाठ में असमर्थ होता है। इसलिए दोनों क्रियाएँ एक साथ–एक समय सम्पन्न नहीं हो सकतीं, यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि जिनका मन स्थिर होता है वे एक समय में अनेक विषयों की ओर एकाग्रचित्त से ध्यान दे सकते हैं। **"ध्यात्वा पठेत्"** का मात्र आशय यही है कि "ध्यान का आरम्भ कर स्तोत्रपाठ करें।"

जिस प्रकार **"राजा राजसूयेन (यजेत्)"** इस विधिवाक्य में केवल क्षत्रिय राजा को ही राजसूय–यज्ञानुष्ठान का अधिकारी अधिकृत किया गया है, उसी प्रकार **"रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः"** इस विधिवाक्य में **"प्राज्ञ"** शब्द के निर्देश द्वारा विशेष रूप से केवल मनीषी पण्डित को रामरक्षास्तोत्र पाठ का अधिकार प्रदान किया गया है। भाष्य के उपक्रम में **"विद्वदनुजिघृक्षया"** पद का उपन्यास भी इसी अधिकार को संकेतित कर रहा है ।

**"इदं किल वज्रपञ्जराख्यं स्तोत्रम्"** यह टीका का उपक्रम है तथा **"रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः"** यह विधिवाक्य है। दोनों वाक्यों में स्तोत्र के दो भिन्न नाम हैं – टीका के उपक्रम में वज्रपञ्जर और विधिवाक्य में रामरक्षा। इस विरोध का शमन टीकाकार इस प्रकार कर रहे हैं – यतः **"वज्रपञ्जर"** और **"रामरक्षा"** दोनों शब्द एक ही स्तोत्र के द्योतक और पर्यायवाची हैं, अतः हमारे द्वारा विहित उपक्रम विरुद्ध नहीं है । रामरक्षा शब्द का निर्वचन आगे करेंगे ।

*ये तु "प्रकर्षेणाऽज्ञः" इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य वेदादिबोधित – दुरवगाहेतिकर्तव्यताकेष्विष्टाऽनिष्टप्राप्तिपरिहारसाधनीभूतेषु कर्मस्वप्रविष्टधियो मन्दाः तैरियं रामरक्षा पठनीया। तथोक्तम्–*

*"रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा जपन् जन्तुरुपैति मुक्तिम् ।*
*कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः ।।इति।*

*अतो मन्दानामधिकार इति वर्णयन्ति। तेषामिदं कौशलमेव दोषफलम्। तथाहि –*

*भवो यदि भवेद् भ्रान्तः कौशिको यदि वा जडः।*
*आयुष्मतां तदा व्याख्याचातुरीयं व्रजेज्जनिम्।।*

---

**"प्र + अज्ञ = प्राज्ञ"** इस निर्वचन के अनुसार कुछ लोग "प्राज्ञ" शब्द का वाच्यार्थ अत्यन्त अनभिज्ञ करते हुए वेद – आगम – श्रुति – स्मृति – पुराण आदि द्वारा बोधित अत्यन्त कठिन चरमकर्तव्य कोटि में प्रविष्ट इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहार के साधनस्वरूप अनुष्ठानों के सम्बन्ध में जो लोग सोच भी नहीं सकते, उन्हें रामरक्षा पाठ के लिए अधिकारी समझते हैं।

प्रमाणस्वरूप वे **"रामेति वर्णद्वयमादरेण"** इत्यादि श्लोक प्रस्तुत करते हैं। इस श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है– "राम" इन दो अक्षरें का सदा–सर्वदा जप करनेवाला जीव मोक्ष प्राप्त करता है । कलियुग में जिनका मानस कलुषित रहता है, वे केवल नामजप के ही अधिकारी होते हैं, अन्य धार्मिक अनुष्ठान के नहीं। उनका यह व्याख्या–कौशल ही दोषबीज है। क्योंकि (स्वप्न में भगवान् शिव ने प्राज्ञ अर्थात् मनीषी पण्डित विश्वामित्र पर अनुकम्पा करने की इच्छा से उन्हें रामरक्षा स्तोत्रमन्त्र का उपदेश दिया था)। अतः पूर्व व्याख्याताओं का व्याख्याकौशल तभी सफल हो सकता है यदि परमशिव भ्रमज्ञानसम्पन्न हों, अथवा विश्वामित्र ऋषि जड़बुद्धि हों । उक्त दोनों ही बातें तर्कसंगत नहीं हैं।

*न च मन्दानुजिघृक्षयैव त्र्यक्षः कौशिकायाऽकथयदिति साम्प्रतम्। 'सुकृती पठेदि'ति भूम्नि "इनि"प्रत्ययदर्शनेन साक्षान्मन्दाधिकारनिवारणात्। न च "मन्दोऽपि सुकृती"ति वाच्यम् । मान्द्यस्य बहुपापफलत्वेन प्रागुक्तसुकृतित्वानुपपत्तेः। अन्यथा सुकृतिदुष्कृतिविभागो न स्यात्।*

*न च "रामेति वर्णद्वयमादरेण" इति श्लोकोऽत्र संवादताम् ऋच्छति। तथाहि – न हि "रामे"त्यक्षरद्वयोच्चारणं सर्वधर्मेभ्यो निकृष्टमिति तस्यार्थः, किन्तु सर्वधर्मेभ्यः प्रकृष्टमिति । यो हि यदुपश्लोकनाय प्रवृत्तः, स कथं तत्र निकृष्टत्वं ब्रूयात् ?*

---

यह कथन भी समीचीन नहीं है कि केवल मन्दमति जीवों पर अनुग्रह करने की इच्छा से ज्ञानमय तृतीयदृष्टिसम्पन्न परमशिव ने विश्वामित्र ऋषि को स्वप्न में रामरक्षा स्तोत्रमन्त्र का उपदेश दिया । ("एतां राम बलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत्" इस पद्यार्ध के) "सुकृती पठेत्" इस अंश में "सुकृतिन्" शब्द में "इनि" प्रत्यय बहुवचन में प्रयुक्त है, जिसका स्पष्ट दर्शन "सुकृत + इनि = सुकृतिनः" इस प्रकार बहुवचनान्त पद में होता है । (जो सुकृत = पुण्यकर्म करता है, वही सुकृती होता है, अन्य नहीं । मन्द (अविवेकी) को श्रीरामरक्षास्तोत्र मन्त्रपाठ से वञ्चित किया गया है । "मन्दमति भी "सुकृती" (पुण्यवान्) होता है" यह आप नहीं कह सकते । मन्दता = जड़बुद्धि का होना प्रचुर पापों का फल (परिणाम) है । पूर्ववर्णित पुण्यवत्ता (सुकृतित्व) मन्दबुद्धि में सम्भव नहीं है ।

पुनश्च "रामेति वर्णद्वयमादरेण" इस श्लोक की संगति भी यहाँ नहीं बैठती। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि "राम" इन दो अक्षरों का जप सभी धर्मों में कनिष्ठ हैं, प्रत्युत अभीष्ट अर्थ यह है कि वह जप सभी धर्मों में श्रेष्ठ है । जो जिसकी स्तुति के लिए प्रवृत्त होता है, वह उसकी निकृष्टता का भला प्रतिपादन क्यों करेगा ?

अतः इस श्लोक का भावार्थ यह है – कलियुग में सदा-सर्वदा

*अतस्तस्य श्लोकस्याऽर्थोऽयम् – कलौ युगे सर्वदा "रामे"त्यक्षरद्व-योच्चारणादेव मुक्तिर्भवति, न नित्याग्निहोत्रादिकर्मकरणात्। "कुत" इत्यत्रोत्तरार्द्धं हेतुत्वेनोपन्यस्यते। कलौ युगे पापप्राबल्यात् कृतोऽप्यग्निहोत्रादिधर्मो न पापक्षयद्वारा मोक्षायाऽलम्, स्वल्पोपायेन बहूपेयाऽप्राप्तेः। ततोऽन्यत्र धर्मे यतो नाऽधिकारः, अतो "रामे"त्यक्षरद्वयमेव सर्वपापक्षयकरं सर्वदोच्चारणीयमिति।*

*न चाऽऽनर्थक्यप्रसङ्गः। यतो यत्र बह्वितिकर्त्तव्यताककर्माऽविनाभूतं स्वल्पं कर्म फलवदिव प्रतिभाति। यथा पूर्णाहुति–पशुबन्धाऽश्वमेधविधाः। तत्राऽवश्यकर्त्तव्यत्वेन स्वल्पेनैव द्वितीयफलसिद्धेर्द्वितीयस्याऽऽनर्थक्ये पूर्वफलवत्तायां प्राप्नोति। न चाऽत्र किञ्चित् कर्मारम्भनियतं राम-नामोच्चारणं, येनाऽऽनर्थक्यन्यायोऽत्र प्रसरेत्।*

---

"राम" नाम जप से ही मुक्ति मिलती है, प्रतिदिन अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान करने से नहीं । कारण की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए उत्तरार्द्ध का उपन्यास है, जिसका आशय यह है– "कलियुग में पापों की बहुलता के कारण अग्निहोत्रादि अनुष्ठान सम्पादन से पापों का प्रक्षालन और मोक्षप्राप्ति नहीं होती । छोटे उपायों से चरम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती । पापलिप्त जीव अन्य धर्मानुष्ठान के लिए अधिकृत नहीं होते, अतः उन्हें सदा-सर्वदा राम-नाम जप ही करना चाहिये, जिसके फलस्वरूप उनके सभी पापों का विनाश हो सके ।"

साथ ही अग्निहोत्रादि अनुष्ठान सम्पादन से कोई अनर्थ भी उपस्थित नहीं होता । जहाँ अनेक अनुष्ठानयोग्य कर्मों में व्याप्तिसम्बन्ध से कोई स्वल्प कर्म अन्वित हो, जो फलदायी प्रतीत हो, जैसे पूर्णाहुति–पशुबन्ध–अश्वमेध आदि, वहाँ वह द्वितीय स्वल्प कर्म इस लिए सम्पन्न करना चाहिए कि वह निश्चित फलप्रद होता है। अन्यथा अधूरा अनुष्ठान तब तक अनर्थकारी होता है, जब तक वह फलप्रद न हो। क्षुद्र कामनाओं के लिए रामनाम जप निर्धारित नहीं है, जिससे अनर्थ हो।

*इतरेतरानपेक्षाणामपि प्रधानकर्मणां समानफलानां यद्ययं न्यायो भवेत्, ततोऽग्निहोत्रसमानफलानां दर्शपूर्णमासादीनां दुष्परिहरमानर्थक्यं स्यादिति बहुभाषितैः । सिद्धं तावत् "प्राज्ञ"शब्दस्याऽस्मदुक्त एवाऽर्थः समञ्जस इति ।*

*"पठेदि"त्यत्रो"पाध्यायादि"ति शेषः। "यथाऽऽदिष्टवान् तथा लिखितवान्" (श्लो० १४) इति गुरुमुखश्रुताक्षरादरस्य दर्शितत्वात् ।*

*अत्र "प्राज्ञ" (श्लो० ३) इति, "सुकृती" (श्लो० ६) इति, 'नर' (श्लो० ११) इति पुंलिङ्गनामेव निर्देशप्रतिनिर्देशान्न स्त्रिया अधिकार इति गम्यते।*

---

परस्परनिरपेक्ष समान फलदायी प्रधान धर्म–कर्मों के साथ "अन्यानर्थक्य"न्याय प्रसृत हो, तो अग्निहोत्र के समान ही फलदायी दर्शपूर्णमासेष्टि का सम्पादन न करने पर अनर्थ परिहार कठिन होगा। अस्तु, अब अधिक प्रवचन को विराम देना चाहिए। प्राज्ञ शब्द का हमारे द्वारा निर्णीत मनीषी पण्डित अर्थ ही ठीक है, मन्दमति अर्थ ठीक नहीं है ।

''रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः'' इस श्लोकपाद में "पठेत्" के साथ "उपाध्यायात्" पद का अध्याहार आवश्यक है, जो इसमें अपठित है क्योंकि "आदिष्टवान् यथा स्वप्ने... तथा लिखितवान्" (श्लो० १४) में आदिगुरु परम शिव से स्वप्न में यथाक्रम प्राप्त स्तोत्रमंत्राक्षरों के प्रति आदर प्रकट किया गया है। (इसलिए गुरुमुख से ही श्रीरामरक्षास्तोत्रमंत्रोपदेशग्रहण यहाँ अभीष्ट है । (स्तोत्र में तीन स्थलों पर पुंलिङ्ग शब्दों का प्रयोग है– "प्राज्ञः" (श्लो० ३), "सुकृती" (श्लो०६) और "नर" (श्लो० ११)। मनीषी पण्डित, पुण्यवान् और पुरुषमात्र ही इसका पाठ करे यही इसका आशय है । स्त्री रामरक्षास्तोत्रमंत्रपाठ की अधिकारिणी नहीं है यह इससे ध्वनित होता है।

इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि "स्वर्गकामो यजेत" इस

*न च "स्वर्गकाम" इति पुंलिङ्गनिर्देशात् तत्राऽपि स्त्रिया नाऽधिकारः स्यात् इति वाच्यम्, तत्रत्यन्यायस्याऽत्राऽसंक्रान्तेः। एतेन स्त्र्यधिकारनिरासेन तत्समानयोगक्षेमस्य शूद्रस्याऽप्यनधिकार इति त्रैवर्णिका एवाऽधिक्रियन्ते।*

*ननु "पठेदि"त्यनेन पाठेन "कुर्यादि"ति वचनव्यक्तौ "किमि"त्यपेक्षायां दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पना न न्याय्येत्यक्षरग्रहणमित्यापतति। तेन "किमि"त्यपेक्षिते पदावधारणं, तेन पदार्थज्ञानं, तेन वाक्यार्थज्ञानमिति सामर्थ्यादवधृतेऽपि वाक्येनाऽनेनाऽनुष्ठेयार्थानवबोधनात्, अनुष्ठानद्वारा फलवत्त्वाभावात् –*

---

विधिवाक्य में पुंलिङ्ग का निर्देश होने के कारण वहाँ भी स्त्री को यज्ञानुष्ठान का अधिकार नहीं है । वहाँ का नियम यहाँ प्रभावी नहीं होता। स्त्री को रामरक्षा पांठ से वञ्चित करने से यह भी ध्वनित होता है कि स्त्री के ही समान योगक्षेम वाले शूद्र भी रामरक्षास्तोत्रमंत्रपाठ के अधिकारी नहीं हैं। केवल त्रैवर्णिक–ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य ही एतदर्थ अधिकृत हैं।

(टीकाकार मुद्गलाचार्य "रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः" इस अंश पर मीमांसादर्शनानुसारी वाक्यार्थविचारपूर्वक फल की आकांक्षा (जिज्ञासा) करते हुए कहते हैं कि) "पठेत्" क्रिया से पाठ करना चाहिए (कुर्यात्) यह शाब्दबोध होता है। इसके पश्चात् "क्या करना चाहिए (किं कुर्यात्) साध्य की जिज्ञासा (भाव्याकांक्षा) होती है। इस स्थिति में साध्य (भाव्य) दृष्टिगोचर होने पर अदृष्ट (साध्य) की कल्पना न्यायसंगत नहीं हैं।[१] इसलिए "रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः" इस श्लोकांश से साध्य के रूप में रामरक्षा अक्षरराशि परिगृहीत होती है । उस अक्षरराशि के सम्बन्ध में आकांक्षा होने पर यथाक्रम पद–पदार्थ–वाक्य–वाक्यार्थ का सामर्थ्यानुसार अवधारण होता है। तथापि अनुष्ठानलभ्य प्रयोजन ज्ञात

---

१– लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्टफलकल्पना – श्लोकवार्तिक

*फलवद्व्यवहाराङ्गभूतार्थं प्रत्ययोग्यता ।*
*निष्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवधार्यते ।।*

*इति न्यायप्रवृत्तेर्वा अक्षरग्रहणादीनां भाव्यतया सम्बन्ध इति भाव्यापेक्षाऽनिवृत्तिः कदापि न स्यात्" इत्याशंक्य धात्वर्थकर्मविशेषणव्याजेन भावनापेक्षितं भाव्यमाह– "पापघ्नीं सर्वकामदामि"ति ।*

*न हि वचनस्याऽतिभारोऽस्तीति न्यायेन वाचनिकफलसाधनत्वात् अस्य शब्दस्य नाऽक्षरग्रहणादिः भाव्यत्वेन सम्भाव्य इति भावः। तथा चाऽनिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्ती प्रयोगभेदात् फलत्वेनोक्ते भवत इति भावः।*

---

नहीं होता, अतः वह अनुष्ठान से सफल नहीं होता।

अथवा "फलवद्व्यवहाराङ्ग" इत्यादि श्लोक में प्रतिपादित न्याय यहाँ प्रभावित नहीं होता । अर्थात् शाब्दबोध के प्रति शब्द की योग्यता होती है, फलवती क्रिया (व्यापार) के अंगभूत प्रयोजन (अर्थ) के प्रति वह निष्फल होता है, अतः प्रयोजनज्ञान के प्रति वह शब्द असमर्थ ही होता है । इस न्याय के अनुसार उस अक्षरराशि–रामरक्षा के प्रत्येक अक्षर–पद–पदार्थ–वाक्य–वाक्यार्थ का प्रयोजन (साध्य) के साथ नितरां सम्बन्ध है, जो अज्ञात रहने के कारण साध्य की आकांक्षा का कभी भी निवारण नहीं होगा, फलाकांक्षा यथावत् बनी रहेगी । इसका समाधान कैसे सम्भव है इस जिज्ञासा का निवारण पाठ पठेत् क्रियापद के कर्मकारक रामरक्षा को अन्वित कर उसके विशेषणों के व्याज से पाठक्रिया से आकांक्षित फलों का निरूपण किया गया है । वे विशेषण हैं– "पापघ्नीं सर्वकामदाम्" ।

"न हि वचनस्याऽतिभारोऽस्ति" (शब्द भारस्वरूप नहीं होता, उसका कोई न कोई प्रयोजन होता है।) इस न्याय के अनुसार शब्द वाचनिक (पाठसम्बन्धी) फल का साधन होने के कारण उस शब्द के अक्षर ग्रहण आदि (पद–पदार्थ–वाक्य–वाक्यार्थ) साध्य नहीं हो सकते। इसलिए दो भिन्न प्रयोगों (विशेषणों) द्वारा अनिष्टनिवारण और इष्टप्राप्ति दो फलों को संकेतित किया गया है ।

*"पापघ्नीम्" इत्यत्र च हन्तेः प्राणवियोगात्मकहिंसावचनत्वात् पापानां चाऽप्राणित्वेन मुख्यार्थाऽसम्भवात् हन्तिनाऽभावो लक्षणीयः । स च प्रागभाव–प्रध्वंसाभावयोरन्यतर इति नित्यं रामरक्षाजपात् अनागतदुरितप्रागभावपरिपालनम् अवस्थितदुरितध्वंसश्च भवतीति विज्ञेयम्।*

*ननु "सर्वकामदामि"ति नोपपद्यते, एकं वा नोदनैकत्वादि त्येकस्यैव फलस्योचितत्वात्। किञ्च यदि रामरक्षापाठमात्रात् सर्वकामावाप्तिः, तर्हि कर्मान्तरेषु बहुवित्तव्ययायाससाध्येषु प्रेक्षावतां प्रकृत्तिर्न स्यात् अनेनैव सर्वकामसिद्धेः इति चेन्न, वचनसामर्थ्याद् बहुफलत्वावगतेः।*

---

**पापानि हन्ति = मारयति इति पापघ्नी, तां पापघ्नीम् इस निर्वचन के अनुसार "पापघ्नी" शब्द का वाच्यार्थ पापों को मारनेवाला होता है, जो बाधित है। क्योंकि "हन्" धातु का वाच्यार्थ प्राणवियोग स्वरूप हिंसा का सम्बन्ध अचेतन पापों के साथ सम्भव ही नहीं है। अतः यहाँ उसका लक्ष्यार्थ अभाव विवक्षित है। वह अभाव दो प्रकार का है – प्रागभाव = अप्राप्त पापों का न रहना, और प्रध्वंसाभाव = संचित पापों का न रहना। इसका आशय यह है कि श्रीरामरक्षास्तोत्र का जप अथवा पाठ करने से कभी भी कोई पाप नहीं होता और संचित पापों का विनाश होता है। (प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण त्रिविध कर्मों में प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोग से ही सम्भव है। संचित और क्रियमाण दृष्कृतजनित पापों का विनाश श्रीरामरक्षा स्तोत्रमंत्र के जप से होता है।)**

**पुनश्च यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्वकामदाम् इस द्वितीय विशेषण की संगति नहीं लग रही है। क्योंकि (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) "धर्म की इस परिभाषा के अनुसार एकं वा नोदनैकत्वात् यह न्याय यहाँ प्रभावी होता है। एक ही प्रेरणादायी लक्ष्य निर्धारण करना चाहिए, क्योंकि धर्म का स्वरूप एक ही निर्धारित है यह इस न्याय का आशय है। तदनुरूप उसका फल भी एक ही उचित है, अनेक नहीं।**

*कल्प्यमानेषु किल एकंवे"ति पूर्वोक्तः न्यायः प्रसरति, न वाचनिकेषु। अन्यथा "एकस्मै वा अन्ये यज्ञक्रतवः कामायाद्रियन्ते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासावि"त्यत्राऽपि कल्पनाप्रसङ्गात्। न चेतरत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तिः।*

*"फलस्य निष्पाद्यत्वे[1] तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् (जै० सू० १/२/१७) इति न्यायेन प्रवृत्त्युपपत्तेः।*

---

और भी, यदि रामरक्षास्तोत्र के केवल पाठ से सभी मनोरथों की पूर्ति सम्भव हो, तो प्रचुर व्यय और कठोर परिश्रमसाध्य अनुष्ठानों में लोगों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। केवल रामरक्षा पाठ से सभी मनोरथों की पूर्ति होगी। परन्तु ऐसी शंका समुचित नहीं हैं। क्योंकि यहाँ पापघ्नीं सर्वकामदाम् इन विशेषणों के पाठ से ही पापविनाश और सम्पूर्ण मनोरथपूर्ति इन दो फलों का ज्ञान हो रहा है।

संकल्पित अनुष्ठानों में "एकं वा नोदनैकत्वात्" न्याय प्रभावी होता है, शब्दोपात्त (वाचनिक) अनुष्ठानों में नहीं। अन्यथा "एकस्मै वाऽन्ये यज्ञक्रतवः कामायाऽऽद्रियन्ते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः सर्वेभ्यो दर्शमासौ" इस श्रौत वचन में उक्त न्याय प्रभावी होता। इसका आशय यह है– "एक ही मनोरथ की संपूर्ति के लिए यूपरहित अग्निहोत्रादि यज्ञ और यूपसहित क्रतु का अनुष्ठान किया जाता है। सभी कामनाओं की पूर्ति के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ तथा दर्शपूर्णमासेष्टि का सम्पादन किया जाता है। "इसं विधिवाक्य में ज्योतिष्टोम और दर्शपूर्णमासेष्टि के अनुष्ठान से सर्वविध मनोरथ सिद्धि शब्दोपात्त है। अतः उक्त न्याय वहाँ प्रभावी नहीं होता। "फलस्य कर्मनिष्पाद्यत्वे तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात्" (जै० सू० १/२/१/७) इस न्याय के अनुसार परिमाण के अनुसार विशिष्ट कर्म के सम्पादन से विशिष्ट फल कों

---

१. "निष्पत्तेः" – पाठान्तरम्

*तदुक्तं भट्टचरणैः –*

*"कर्मणां महतां चैव फलानां च स्वगोचरे।*
*विभाग–स्थान–सामान्यादविशेषोऽपि चोदितः।।" इति।।*

*ननु "अजं विभुं नीलोत्पलश्यामत्वादिविशेषणविशिष्टं (रामं) ध्यात्वा" इत्यन्वयोऽभिहितः सोऽयुक्त इति भाति। तथाहि, अजत्वविभुत्वे आकाशादावपि विद्येते। न चैवमाकारत्वेन तेषां ध्यानं सङ्गच्छत इति चेन्न, "विभु"शब्दस्याऽत्र शक्तवचनत्वात्। कार्यविशेषाऽनवच्छिन्नत्वेन*

---

देखकर तत्तत् फल को देनेवाले अनुष्ठानों के प्रति लोगों की फलानुसार प्रवृत्ति होती है।

जैसा कि श्रीकुमारिल भट्ट का प्रमाणवचन है–

"कर्मणां महतां चैव फलानां च स्वगोचरे ।
विभागस्थानसामान्यादविशेषोऽपि चोदितः ।।"

कुछ अनुष्ठान परिमाण की दृष्टि से बड़े और कुछ छोटे होते हैं। तदनुसार उनके फल भी बड़े और छोटे होते हैं। इस प्रकार परिमाण की दृष्टि से कर्मों के सामान्य विभाग और सामान्य स्थान के कारण उनके सामान्य फल का उपदेश दिया जाता है।

( उदाहरण के लिए सकाम अनुष्ठान में दुर्गासप्तशती का सामान्य पाठ, सम्पुट–पाठ, नवाह्नपाठ, शतचण्डी–सहस्रचण्डी–लक्षचण्डी आदि विविध पाठ विधान है। परिमाण के अनुसार इनके लघु और बृहत् विविध फल है।)

अब यह शंका उपस्थित होती है कि "अजं विभुं तथा नीलोत्पलदलश्यामं" आदि विशेषणों के साथ "ध्यात्वा" इस प्रकार अन्वय करना समुचित प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार राम में जन्म – राहित्य और व्यापकत्व धर्म विद्यमान हैं, उसी प्रकार उक्त धर्म आकाश

सर्वविषयकशक्तत्वं केवलमीश्वरनिष्ठमेवेति न व्यापकत्वबाचितयोपालम्भः। "विभु"शब्दस्य शक्तवचनत्वं "वसु तस्य न केवलं विभोर्गुणवत्ताऽपि परं प्रयोजनम्" इत्यादौ शतशो दृष्टम्।

यद्वा – एवं दूरान्वयः कार्यः। "अजं विभुं रामं तत्तद्विशेषणविशिष्टं ध्यात्वे"त्यन्वयः। रामशब्दश्च परब्रह्मपरत्वेन पद्मपुराणे (रामपूर्वतापिन्यामपि १/६) दृष्टः –

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।" इति।

---

में भी रहते हैं। साथ ही निराकार का साक्षात्कार भी असंभव है। अतः इसकी संगति नहीं लगती। यह शंका समुचित नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत सन्दर्भ में विभु शब्द का अर्थ व्यापक न होकर प्रभु, सर्वसमर्थ है। (ईश्वर को छोड़कर सभी जीव किसी विशिष्ट कार्य में ही समर्थ होते है।, सर्वसमर्थ नहीं। केवल ईश्वर ही प्रभु = सर्वसमर्थ होता है।) अतः "विभु" शब्द का सर्वव्यापी अर्थ कर हम ईश्वर का तिरस्कार नहीं कर सकते। "विभु" शब्द का सर्वशक्तिसम्पन्न अर्थ में प्रयोग "वसु तस्य न केवलं विभोः" इत्यादि सैकड़ों उदाहरणों में दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तुत अर्धाली में "विभु" शब्द का अर्थ सर्वसमर्थ है। उक्त पद्यार्ध का आशय यह है– सर्वसमर्थ प्रभु राम का धन ही उसका एक मात्र प्रयोजन नहीं था, अपितु गुणशालिता भी इसका प्रयोजन था।

अथवा दूर तक यह अन्वय करना चाहिए – "अजं विभुं रामं नीलोत्पलश्यामेत्यादि तत्तद्विशेषणसहितं ध्यात्वा"।

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते" इत्यादि पद्मपुराणोक्त (रामपूर्वतापिनी प्रोक्त १/६) पद्य में रामशब्द का परब्रह्मपरक अर्थ दृष्टिगोचर होता है, जिसका आशय यह है– "अनन्त सत्यस्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप परमात्मा में यतः योगी रमण करते हैं, अतः "रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः" इस निर्वचन के अनुसार "राम" पद के द्वारा

*श्रीरामार्चनचन्द्रिकायां तु निर्गुणसगुणब्रह्मपरतया दर्शितः –*
*"रमन्ते योगिनो नित्यं यद्वा रमयति स्वकान् ।*
*निर्गुणं सच्चिदानन्दं सगुणं चेति कीर्त्यते ।।" इति ।*

*यद्वा छित्वा तदेव "राममि"ति पदं विशेष्यसमर्पकतया योज्यम् "राम् + अम्" इति। अयं श्रीराममन्त्राणां मध्ये एकाक्षरो बीजात्मको मन्त्रः। अकारश्च वासुदेववाचकः, "अकारो वासुदेवः स्यात्" इत्यभिधानात्। तथा च "राम् अम् मन्त्ररूपं वासुदेवम् अजं विभुं तत्तद्विशेषणविशिष्टं ध्यात्वा" इति सम्बन्धः, "मन्त्रात्मा देवते"ति तान्त्रिकप्रसिद्धेः सामानाधिकरण्यम्।*

---

परब्रह्म अर्थ ही अभीष्ट है।

श्री रामार्चनचन्द्रिका के पूर्वोक्त पद्य में श्रीराम का वर्णन निर्गुण और सगुण ब्रह्म के रूप में अंकित है, जिसका आशय इस प्रकार है– "योगी सदा–सर्वदा जिसमें रमण करते हैं अथवा आत्मीय भक्तों को आत्म–स्वरूप में रमण कराते हैं उस सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा राम का संकीर्तन निर्गुण और सगुण दो प्रकार से किया जाता है।

अथवा "रामम्" इस पद का विच्छेद कर उसकी योजना विशेष्यसमर्पक विशेषण के रूप में इस प्रकार करनी चाहिए – "राम् + अम्"। श्रीराममन्त्रों के बीच में "रां" यह एकाक्षर बीजस्वरूप मन्त्र है और अकार वासुदेव का वाचक है। "अकारो वासुदेवः स्यात्" यह अभिधान (एकाक्षरी कोष) का श्लोकांश इसमें प्रमाण है। इस प्रकार इसकी अन्वयानुसारिणी व्याख्या होगी– "राम् + अम् = रामम्" = एकाक्षर मन्त्रस्वरूप वासुदेव ब्रह्म का, "अजम्" = जो जन्मरहित हैं, "विभुम्" = जो सर्वव्यापी हैं, तत्तद्विशेषणविशिष्टं = जो "नीलोत्पलदलश्यामं" आदि उस–उस विशेषण के सहित है, (उस वासुदेव का) ध्यात्वा = ध्यान करते हुए"। "राम् अम्" इन दो पदों की

*यथा चेदं बीजं वासुदेवाख्ये परब्रह्मणि पर्यवस्यति, तथा दर्शितं रामशब्दार्थकथनपूर्वं संहितायाम्। तथाहि–*

*"रकारो वह्निवचनः प्रकाशे पर्यवस्यति ।*
*सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते ।।*

*व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वराः।*
*व्यञ्जनैः स्वरसंयोगो विद्धि तत्प्राणयोजनम्।।"*

*रेफे ज्योतिर्मये तस्मात् कृतमाकारयोजनम् ।*
*मकारोऽभ्युदयार्थत्वात्तन्मायेति च कीर्त्यते ।।*

---

समान विभक्ति में अवस्थिति (सामानाधिकरण्य) "मन्त्रात्मा देवता" (देवता मन्त्र से अभिन्न होती है) इस तान्त्रिक प्रसिद्धि के अनुसार है।

जिस प्रकार यह "राम् बीजमंत्र वासुदेव नामक परब्रह्म में रूपान्तरित होता हे, उसे "राम" शब्द के अर्थनिर्वचन के साथ संहिता में प्रदर्शित किया गया है। इसका अर्थ इस प्रकार है –

अग्नि के वाचक मन्त्रबीज "र"कार का पर्यवसित अर्थ प्रकाश है। अतः उसका अर्थ है सच्चिदानन्द प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा। व्यञ्जन निष्कल (कला = मात्रा से रहित) ब्रह्म और स्वर माया उसके प्राण होते हैं। व्यञ्जन के साथ प्राणों का संयोग समझना चाहिए। स्वरों की मात्राएँ उनके प्राण हैं। बिना स्वरों की सहायता के व्यंजनों का उच्चारण सम्भव नहीं है। बिना माया के ब्रह्म की प्रपंचसृष्टि संभव नहीं है।

("राम्" बीजमंत्र में तीन अंश हैं– "र्+आ+म्" इनमें) प्रकाशस्वरूप रकार (रेफ) में अभ्युदयार्थक "मकार" (म्) के साथ जिस आकार (ा) का संयोजन किया गया है, उसे माया कहते हैं।

*"अयमेवान्तमुत्सृज्याकारमेकाक्षरो मनुः ।
मायाबीजात्मके तस्मात् समायं ब्रह्म कथ्यते ।।"*

*ननु परब्रह्मणः कथमुक्तविशेषणोपपन्नत्वम्? अत आह – "अवतीर्णमि"ति। स्वसमवेताऽदृष्टाऽनारब्धशरीराभिमानित्वम् अवतीर्णत्वम्।*

*अनेन "सर्वविरोधास्पदं ब्रह्मे"ति न्यायमनुसृत्य अजत्वाऽवतीर्णत्वयोर्विरोधो दर्शितः। क्वचित्त्वांऽऽविर्भूतमि"ति पाठः। तत्राऽप्ययमेवार्थोऽनुसन्धेयः।*

---

(राम" में तीन अंश हैं– र्+आम्+अ = राम। इनमें) अन्तिम (वासुदेववाची) अकार को छोड़कर (राम्" यह) एकाक्षर बीजमंत्र है। मायाबीज "आं" के साथ प्रकाशस्वरूप रेफ् (र्) में सम्मिलित वासुदेववाची अकार सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा कहलाता है। (र् = अग्निबीज) प्रकाश, आं = मायाबीज, अ = वासुदेव। र्+आम्+अ = राम = मायोपाधिक प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द वासुदेव नामक परब्रह्म परमात्मा)।

पुनश्च यह प्रश्न उपस्थित होता है परब्रह्म परमात्मा निर्गुण, निराकार "अज" और "विभु" हैं। साथ ही सगुण स्पष्ट "नीलोत्पलदलश्याम" आदि विशेषणसम्पन्न भी हैं। परब्रह्म परमात्मा में सगुणत्व और निर्गुणत्व दोनों धर्म एक साथ कैसे समन्वित होंगे ? इसका समाधान पद्य में "अवतीर्णम्" पद से किया गया है। "अवतीर्ण" का अर्थ है "अवतार लेने वाले"। परब्रह्म परमात्मा का शरीर न तो दृष्टिगोचर होता है, और न उस शरीर का आरम्भ ही परब्रह्म में संभव है। किन्तु उस अदृष्ट और अनारब्ध शरीर का अभिन्न रूप से अभिमान जब परब्रह्म में होता है, तब कहा जाता है कि परमात्मा ने अवतार लिया है, वे "अवतीर्ण" हुए हैं। "सर्वविरोधास्पदं ब्रह्म" यह न्याय यहाँ प्रभावी है, जिसका आशय है – परब्रह्म परमात्मा जन्मरहित होने पर भी दशरथपुत्र राम का शरीर धारण करते हैं और स्वयं को

*ननु आनन्दैकस्वरूपस्य स्वतन्त्रस्य केन हेतुना शरीरोपादानम् ? अत आह –"जगत् त्रातुमि"ति। दुष्टनिग्रहाऽनुगृहीतशिष्टपरिपालनायेति यावत्।*

*ननु एतत् अगृहीतशरीरेणाऽपि तेन सर्वशक्तिनिकुरम्बाकारेण स्वेच्छामात्रेणाऽपि कर्तुं शक्यते एवेति पुनस्तदवस्थैवाऽनुपपत्तिः ? अत आह–"स्वलीलये"ति। कतिपयपुरपतिरपि नरपतिः "इदं छिन्दि, इदं*

---

दशरथपुत्र राम कहते हैं। यह संगति पूर्वोक्त न्याय को हृदयंगम करने से ही होती है। कहीं–कहीं "आविर्भूतम्" यह पाठ है। उसकी भी अर्थसंगति इसी प्रकार करनी चाहिए।

परब्रह्म परमात्मा तो केवल आनन्दस्वरूप और स्वतंत्र है। (शरीराभिमान तो परतंत्रता का द्योतक है।) फिर किस कारण से परब्रह्म परमात्मा शरीर धारण करते हैं ? इस प्रश्न का समाधान "जगत् त्रातुम्" इस प्रयोजन से प्राप्त होता है। (स्थावर जंगमस्वरूप जगत् की रक्षा करना यही परब्रह्म परमात्मा के प्रत्येक अवतार का प्रयोजन है। अतः (परब्रह्म परमात्मा दुष्टों का निग्रह करने के लिए, उन्हें दण्ड देने के लिए और अनुग्रहपात्र सज्जनों की सर्वतोभावेन रक्षा करने के लिए) अवतार लेते हैं।

परब्रह्म परमात्मा में सभी शक्तियाँ एकत्र निकुरंब (कलिका) के आकार में समाविष्ट हैं। वह बिना शरीर धारण किए ही केवल इच्छा (संकल्प) से ही विश्व की रक्षा कर सकता है। अतः उसका अवतार लेना संगत प्रतीत नहीं होता। उसकी संगति "स्वलीलया" इस हेतु के उपन्यास से हो रही है। वे अपनी लीला से अवतार लेते हैं।

कतिपय नगरों का स्वामी राजा भी अनेक प्रकार की आज्ञाएं प्रसारित करता है– "यह काटो, इसे तोड़ो, यह ले जाओ, वह ले आओ, यह करो, यह मत करो" आदि। इन आज्ञाओं के विषय में राजा

*भिन्दि, इदं नय, इदमानय,इदं कुरु, इदं मा कुरु" इत्यनेकाज्ञाः कुर्वन्न केनाऽपि पर्यनुयोक्तुं शक्यते, किं पुनर्भगवांस्त्रिभुवनभवनाधीशः।*

*अनेन च "लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्" इति न्यायोऽत्र सूचितः।*

*तत्रैतदुक्तं भगवता शारीरिकभाष्यकृता – "यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवललीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा वा उच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं प्रयोजनं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याऽपि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यती"ति।*

---

को पूछने का अधिकार किसी को भी नहीं होता। फिर जो त्रिभुवन का स्वामी हो वह सर्व–तंत्र स्वतंत्र है। उसे भला कौन पूछ सकता है ? वह अपनी लीला से कुछ भी कर सकते हैं।

इससे "लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्" इस ब्रह्मसूत्रोक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जिसका सामान्य आशय इस प्रकार है– जिस प्रकार जगत् में बिना किसी प्रयोजन के विविध लीलाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार परमात्मा भी बिना किसी प्रयोजन के संकल्पमात्र से लीलावतार लेता है। "शारीरिक भाष्य"कार भगवत्पाद आदिशंकराचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं– "जिस प्रकार विश्व में अपनी इच्छा (संकल्प) के स्वामी राजा अथवा राजामात्य की विविध लीलाएँ क्रीड़ाविहारों में बिना किसी अन्य प्रयोजन के होती हैं अथवा बिना किसी प्रयोजन के स्वभाव से ही देहधारी सभी प्राणियों के श्वासोच्छ्वास चलते रहते हैं, उसी प्रकार परमैश्वर्यसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा की नानाविध लीलाएं बिना किसी प्रयोजन की अपेक्षा के होती रहती हैं और आगे भी होती रहेंगी ।"

*अथवा "स्वलीलयाऽवतीर्णमि"ति न सम्बन्धः, किन्तु" "स्वलीलया जगत् त्रातुम्" इति यथाश्रुत एव। "लीला"शब्दश्चाऽत्र जात्यभिप्रायैकवचनान्तः । लीलाभिरित्यर्थः।*

*यदि नामेश्वरोऽगृहीतशरीर एव इच्छामात्रेण रावणवध–सेतु -बन्ध–मृतवानरजीवनाऽहल्योद्धरण–यज्ञसंरक्षण–चन्द्रचूडचाप-भङ्गाद्यलौकिककार्यपरम्परां कुर्यात् तदाऽत्यन्तपामराः किञ्चित्कर्म-जडास्तावत् आकस्मिकत्वसन्दिग्धनिमित्तत्वत्वाऽदृष्टमात्र-सम्बन्धादितत्त्वानितत्तत्कार्येषु मन्यमानानेश्वरसद्भावमपि शृणुयुः। कुतर्कोपप्लुतास्तु "किमीहः किंकाय" इत्यादिवृद्धोपदर्शितकुतर्कबलेन स्वभावाद्यवलम्बनेन विपर्यस्ता एव स्युः।*

---

अथवा "स्वलीलया अवतीर्णम्" इस प्रकार नहीं, अपितु "स्वलीलया जगत् त्रातुम्" इस प्रकार जैसा कर्णगोचर है, वैसा ही अन्वय करना चाहिए। "स्वलीलया" यह तृतीया एकवचनान्त प्रयोग "लीलात्व" जाति के तात्पर्य से है, जिसका आशय यह है कि परब्रह्म परमात्मा की प्रवृत्ति केवल एक बार लीला में नहीं होती, अपितु वे अनेक बार जगत् की रक्षा करने के लिए लीला में प्रवृत्त होते हैं।

इसका आशय यह है – यदि कहीं ईश्वर बिना शरीरधारण किए (रामावतार न लेकर) केवल अपने संकल्प से रावणवध, सेतुबन्ध, मृत वानरों को पुनः जीवनदान, अहल्या-उद्धार, विश्वामित्र के यज्ञ का संरक्षण, शिवधनुष का भंग आदि लोकोत्तर कार्यकलाप करे; तो अत्यन्त पामर (निकृष्ट) लोग अपने क्षुद्रकर्म पर ही निष्क्रिय (स्थिर) होकर ईश्वरीय कार्यकलापों में आकस्मिकता–संदिग्धकारण, अदृष्ट मात्र सम्बन्ध आदि अन्वेषण करते हुए ईश्वर के अस्तित्व को सुनेंगे भी नहीं। दुराग्रह तर्क कुतर्क करने वाले तो "किमीहः किंकायः" इत्यादि वृद्धों द्वारा दिग्दर्शित कुतर्कों का संबल लेकर स्वभावानुसार विपरीत आचरण ही करेंगे।

*परमपण्डिताः केवलं द्वित्राः पवित्राः संच्चरिताभिज्ञाः श्रेयोभाजनं भवेयुः इति कुम्भीपाकादय एव सर्वेषां निवासाः स्युरिति गतं जगद्रक्षावार्तयाऽपि। अवतीर्णे तु भगवतः तत्तच्चरितान्याचरति प्रचरति सर्वज्ञवल्मीकसंभवादिमहर्षिवाग्विलाससुधापूरे दूरे कथा कुम्भीपाकादीनाम्।*

*"हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।*
*अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।।"इत्युक्तेः।।*

*अतस्तच्चरितैर्दृष्टैः श्रुतैः स्मृतैर्वा दुरितापचयसुकृतोपचयाभ्यां संरक्षितमेवाऽवतीर्णेन परमपुरुषेण जगदिति युक्तमुत्पश्याम इति।*

---

अत्यंत ज्ञानी और सदाचारी दो-तीन लोग ही ईश्वरीय लीला को समझते हुए "श्रेयस्" (मोक्ष) के पात्र होंगे। इस प्रकार सभी प्राणी कुम्भीपाक नरक में ही जाएंगे। ऐसी स्थिति में समस्त संसार की रक्षा भी दूर की बात होगी। भगवान् के अवतार लेने और पूर्वोक्त कार्यकलापों की लीला करने पर, पुनश्च भूत भविष्य वर्तमान के द्रष्टा महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण का अमृतप्रवाह सर्वत्र प्रवाहित करने पर कुम्भीपाक आदि नरकों की कहानी भी कोई नहीं जानेगा, वह दूर की बात होगी।

'हरिर्हरति पापानि' इत्यादि पूर्वोक्त सुभाषित इसमें प्रमाण है। इसका आशय है – "कलुषित अन्तःकरणशाली जनों द्वारा भी स्मरण मात्र से श्रीहरि उसी प्रकार समस्त पापों को भस्मसात् करते हैं, जिस प्रकार अग्नि बिना इच्छा के केवल स्पर्श से किसी को भी जला डालता है।

जो उनकी लीलाओं का दर्शन, श्रवण अथवा स्मरण करता है, उसके संपूर्ण पापों का विनाश और पुण्य की वृद्धि होती है। इस प्रकार परम पुरुष परमात्मा का अवतार लेकर सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करते हैं।

*"स्वलीलाभिरि"ति वक्तव्ये एकवचनं तल्लीलानामद्वितीयसूचनाय।*

*तथा चाऽर्जुनः–*

*"न[1] त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो*
*लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः"। इति। (गीता ११/४३)।*

*कथमस्य जगत्संरक्षकत्वम् इत्याशंक्य विशिनष्टि – "नक्तञ्चरान्तकमि"ति । नक्तञ्चरा राक्षसास्तमोगुणोपजीवकास्तेषां नाशकम् ।*

---

यही हमें तर्कसंगत प्रतीत होता है।

"लीला" शब्द का तृतीया बहुवचन के स्थान पर एकवचन में प्रयोग ईश्वरीय लीलाओं की लोकोत्तरता (अद्वितीयता) सूचित करने के लिए किया गया है।

जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण का स्तवन करते हैं– "भगवन् ! स्वर्ग-मृत्यु-पाताल-तीनों लोकों में तुम्हारा प्रभाव अनुपम है। त्रिभुवन में तुम्हारी बराबरी भी कोई नहीं कर सकता, फिर गुणों में तुमसे बढ़–चढ़कर भला कौन हो सकता है।" (यह स्तुति ईश्वरीय लीला की अद्वितीयता द्योतित कर रही है। )

परब्रह्म परमात्मा चराचर जगत् का संरक्षण किस प्रकार करते हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान "नक्तञ्चरान्तकम्" इस विशेषण से होता है। जगत् की रक्षा दो प्रकार से होती है– दुष्टों को दण्डित करने से और शिष्टों पर अनुग्रह से। उनमें शिष्टों पर अनुग्रह करना तभी संभव

---

१. अस्य पद्यस्य पूर्वार्द्धमित्थम् –
"पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।"
(गीता ११/४३)

*नक्तञ्चराणां च लोकान्तकात्मकत्वात् तेषामप्यन्तकत्वप्रदर्शनेन "मृत्युर्धावति पञ्चमः", "यद्भयान्मृत्युः प्रधावति शरणं तमीमहि" इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तोऽर्थः प्रकाशितः।*

*इदानीं प्रायशो दुष्टनिग्रहस्य दण्डकारण्यसञ्चरणसमय एव कृतत्वात् तन्मात्रप्रयोजकत्वादवतारस्य तत्समयसम्भावितस्यैव रूपस्य ध्यानं वदन् रात्रिञ्चरवधोपायवत्तया विशिनष्टि –"सासितूणे"ति ।*

---

होता है, जब दुष्टों को दण्ड दिया जाय। अतः यह विशेषण सार्थक है।

"नक्तं चरन्ति इति नक्तञ्चराः" इस निर्वचन के अनुसार राक्षस रात्रि में विचरण करने के कारण "नक्तञ्चर" कहलाते हैं। सत्व-रज-तम- इन तीन गुणों में रात्रि का अन्धकार तमोगुण का द्योतक होता है। परमात्मा उन राक्षसों का भी संहार करते हैं, जो तमोगुण के उपजीवी और समस्त संसार का संहार करते हैं। इस निरूपण द्वारा "मृत्युर्धावति पञ्चमः" और "यद्भयाद् मृत्युः प्रधावति शरणं तमीमहि" इन श्रुति – स्मृतिप्रतिपादित सिद्धान्तों को निरूपित किया गया है। (इनमें "मृत्युर्धावति पञ्चमः" का आशय यह है–जिस मृत्यु से भयभीत लोग इधर–उधर दौड़ते हैं, उस मृत्यु के पीछे महाकालस्वरूप परमात्मा पाँचवाँ मृत्युदेवता बनकर दौड़ता है, मृत्यु भी उससे भयभीत रहता है। "यद्भयात् मृत्युः प्रधावति शरणं तमीमहि" वचन का अभिप्राय इस प्रकार है– "जिस महाकालस्वरूप ईश्वर के भय से मृत्यु भी दौड़ता है, हम उसी परमात्मा की शरण में जाते हैं। "नक्तञ्चरान्तकम्" इसका वास्तविक अर्थ भिन्न है– "नक्तञ्चरों" से यहां तात्पर्य काम–क्रोध–आदि मनोविकारों से है, जो हमारे भीतरी राक्षस हैं, उनका संहार करने वाला "नक्तञ्चरान्तक" होता है।)

भगवान् ने प्रायः दण्डकारण्य में विचरण करते समय ही दुष्टों को दण्डित किया था, और वही एकमात्र उनके रामावतार का प्रयोजन था,

*सहाऽसितूणाभ्यां वर्तते इति सासितूणः, एवंविधश्चासौ धनुर्बाणपाणिश्चेति विग्रहः। स्कन्धघटितवध्यवनद्धत्वसाम्येनाऽसितूणयोरे-वमुपादानं वामदक्षिणकरस्थयोर्धनुर्बाणयोः करस्थितत्वसाम्येनेति ज्ञेयम्। अन्यथा "साऽसितूणधनुर्बाणमि"त्येवाऽवक्ष्यत्। अनेन च प्रत्यासन्नवधोपायवत्ता उक्ता, असेः प्रत्यासन्नवधोपायत्वात् धनुर्बाणयोश्चाप्रत्यासन्नवधोपायत्वात् अनागतप्रागभावपरिपालनं वर्तमानपापविनाशकत्वं चाऽऽकूतमिति ज्ञेयम्। अनेन पूर्वोक्तेनैव न्यायेन विभुत्वमूर्त्तत्वयोरविरोधो दर्शितः।*

---

अतः उसी समय के स्वरूप की कल्पना कर उसी प्रकार के ध्यान का निरूपण करते हुए निशाचर राक्षसों के संहार की सामग्री से सुशोभित परमात्मा के विशेषण का उपन्यास कर रहे हैं– "सासितूणधनुर्बाणपाणिम्।" इसका समासविग्रह इस प्रकार है– "असिश्च तूणा च असितूणे। सह असितूणाभ्यां वर्तते इति सासितूणः। धनुश्च बाणश्च इति धनुर्बाणौ। तौ पाण्योः यस्य सः धनुर्बाणपाणिः। सासितूणश्च धनुर्बाणपाणिश्च इति सासितूणधनुर्बाणपाणिः, तम्।" यहां "सासितूण" और "धनुर्बाणपाणि" दोनों पदों के कर्मधारय समास से यह समझना चाहिए कि प्रहार के साधन के रूप में भगवान् के बाएँ और दाहिने कन्धों पर क्रमशः खड्ग और तरकश लटक रहे हैं तथा उनके दाहिने एवं बाएं हाथों में यथाक्रम धनुष और बाण विराजमान हैं। अन्यथा "सासितूणधनुर्बाण" इतना ही विशेषण प्रयुक्त होता। शस्त्रसामग्री की इस सन्नद्धता द्वारा निकट और दूर अवस्थित शत्रुओं के संहार के प्रति सजगता संकेतित है, क्योंकि खड्ग निकट अवस्थित शत्रु के और धनुष–बाण दूरस्थ शत्रु के संहार के साधन हैं। इसके विशेषण से यह भी रहस्य उद्घाटित होता है कि परमात्मा उन पापों से भी रक्षा करते हैं, जो दूर ही रहते हैं, निकट नहीं आते। अनागतपापप्रागभाव – परिपालनम्। तथा वर्तमान (निकटस्थ) पापों का विनाश भी करते हैं। "सासितूणधनुर्बाणपाणिं" यह विशेषण भगवान् के सगुण–साकार (मूर्त) स्वरूप को तथा "अजं

*इदानीं मायामानुषवेशः सन् मनुष्याचारमनुसरन् दाशरथिर्दशाननं सदाशिवप्रसादावाप्तपरमैश्वर्यमाकर्ण्य तद्वधे तदीयवधे च सदाशिवकृतमेव तीव्रबन्धमाशंक्य आदित एवाऽरण्यप्रवेशे शैवं व्रतं शिवप्रसन्नतार्थी सन्नङ्गीचकारेति सूचयन् विशिनष्टि– "जटामुकुटे"ति।*

*"जटा मुकुट इव जटामुकुटः, तस्य मण्डितम् । भावे निष्ठा। "मण्डनमि"ति यावत्। मुकुटसन्निवेशेन रचितो जटाकलापो येन शोभां बभारेति भावः। भावक्तान्तस्य नित्यनपुंसकत्वाद् "वेदाः प्रमाणम्" इतिवत् सामानाधिकरण्यम्। यद्वा –"जटामुकुटेन मण्डितमि"ति व्याख्येयम्।*

*एवं च मण्डनान्तराभावः सूचितः। मुकुटोपमया च श्रीरामस्वरूपमहिमा*

---

विभुं" यह विशेषण उनके निर्गुण–निराकार (विभु–अमूर्त) स्वरूप को प्रकट करते हैं। "सर्वविरोधास्पदं ब्रह्म" यह पूर्वोक्त न्याय यहाँ भी प्रभावी है। अतः आपाततः परस्परविरोधी प्रतीत होने वाले विभुत्व और मूर्तत्व में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है।

अग्रिम विशेषण "जटामुकुटमण्डित" से यह सूचना प्राप्त होती है कि भगवान् ने अपनी ही माया से मानवोचित सदाचार का अनुसरण करते हुए दशरथपुत्र श्रीराम के रूप में मनुष्ययोनि में अवतार लेकर भगवान् शंकर के कृपाप्रसाद से ही परम समृद्धिशाली रावण की कीर्ति सुनकर और उसके तथा उसके सम्बन्धियों के संहार में भगवान् शंकर को ही प्रमुख रूप से बाधक समझकर दण्डकारण्य में प्रवेश के पूर्व ही शिव के कृपाप्रसाद की कामना से शैवव्रत स्वीकार किया था।

"जटामुकुटमण्डितम्" पद का दो प्रकार से समासविग्रह है – (१) जटा मुकुट इव जटामुकुटः, तस्य मण्डितम्। यहां "मण्ड्" धातु से भाववाचक निष्ठासंज्ञक "क्त"प्रत्यय प्रयुक्त है।

(मण्ड्+क्त = मण्डित, क्तक्तवतू निष्ठा।) मण्डित = मण्डन भूषण। श्रीरामजी ने अपने जटाकलाप को मुकुट का आकार प्रदान

*कोऽपि द्योत्यते, येन जटाबन्धोऽपि मुकुटवदवभासते। तथा चोक्तम् –*

*"रम्याणि स्थलवैभवेन कतिचिद्वस्तूनि कस्तूरिकां*

*नेपालक्षितिपालभालफलके पंकेन शंकेत कः"? इति। न च "तस्याऽमानुषत्वे किं शिवव्रतधारणेन ?" इति वाच्यम् लोकशिक्षायै तथाऽनुष्ठानात्।*

*तथा चोक्तं भगवता –*

---

किया था, जिससे वे लोकोत्तर शोभा धारण कर रहे थे– यही इसका आशय है। पुलिङ्गी राम शब्द और भाववाचक नित्य नपुंसकलिङ्गी "मण्डित" शब्द का भिन्न लिङ्ग होने पर भी सामानाधिकरण्य (समान लिङ्ग और समान विभक्ति में अवस्थान) उसी प्रकार है, जिस प्रकार "वेदाः प्रमाणम्" इस प्रयोग में भिन्न लिङ्ग और वचन होने पर भी सामानाधिकरण्य है। इस प्रकार प्रयोग होगा – "जटामुकुटमण्डितं रामः"। अथवा – (२) "जटामुकुटेन मण्डितम्" इस समास विग्रह के अनुसार व्याख्या करनी चाहिए, जिसका अर्थ होगा – जटारूपी मुकुट से सुशोभित।

इससे यह सूचित होता है कि श्रीरामजी ने कोई दूसरा आभूषण धारण नहीं किया था। जटाकलाप के साथ मुकुट की महिमा से श्रीरामजी का अनिर्वचनीय सौन्दर्य व्यंजित हो रहा है, जिससे उनका जटाजूट भी मुकुट के समान प्रतीत हो रहा है।

जैसा कि 'रम्याणि' इत्यादि दृष्टान्त वाक्य है, इसका अर्थ इस प्रकार है – "स्थल की महिमा से कतिपय वस्तुएँ रमणीय प्रतीत होती हैं। नेपाल नरेश के ललाटपट्ट पर अंकित कस्तूरीतिलक को देखकर भला कौन उसे कीचड़ समझेगा ?" (उसी प्रकार श्रीराम जी के ललाटपट्ट पर विराजमान जटाकलाप को लोग मुकुट ही समझते हैं, जटाकलाप नहीं। )

*"न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।*
*नाऽनवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि।।*
*यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।*
*मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः।।" इति।*

*(गी० ३/२२–२३)*

*रामशब्दस्याऽनेकार्थत्वात् संयोगादिना विनाऽर्थविशेषपर्यवसानाभावात् विशिनष्टि – "जानकी"ति। एवं ताहि अन्यतरेणैव चारितार्थ्ये उभयोपादानमनर्थकमिति चेत्, न । तयोः परमप्रीतिपात्रत्वादेकेनाऽपि*

---

भगवान् राम "अमानुष" = मानवों में लोकोत्तर थे। उन्हें शैवव्रत स्वीकार करने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रकार का प्रश्न समीचीन नहीं है। क्योंकि लोगों में आदर्श स्थापित करने के लिए भगवान् ने शैवव्रत का अनुष्ठान किया था। जैसा कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं–

"अर्जुन ! त्रिभुवन में मेरी कर्तव्यकोटि में और प्राप्तव्यकोटि में कुछ भी शेष नहीं है, तथापि लोक–शिक्षा के लिए मैं मानवोचित सदाचार का पालन करता हूँ।"

अर्जुन ! यदि मैं वैसा आचरण न करूँ, (तो लोग भी सदाचार विमुख होंगे।) अतः कर्तव्य कर्मों के प्रति मैं सदा जागरूक रहता हूँ। मानव सभी प्रकार से मेरे द्वारा अनुसृत सन्मार्ग का ही अवलंबन करते हैं।

राम शब्द के अनेक अर्थ हैं– (दाशरथी राम, परशुराम, बलराम आदि।) संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता इत्यादि नियम के अनुसार बिना संयोग आदि के उसके विशिष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं होता। उस विशिष्टार्थ का ज्ञान "जानकीलक्ष्मणोपेतम्" इस विशेषण से हो रहा है। इसका अर्थ है जनकतनया सीता और लक्ष्मण के सहित। जानकी और लक्ष्मण दोनों में से किसी एक के संयोग से जब दाशरथी

*हीनो ध्यातो मनसोऽर्थसिद्धयै प्रभवतीति द्योतयितुमुभयोपादानात्। न ह्यसन्तुष्टा ध्याता देवता कार्यं साधयति। "राममि"त्यत्र पदच्छेदपक्षेऽपि एवमेव व्याख्येयम्। "उपेतजानकीलक्ष्मणमि"ति परिहाय "जानकीलक्ष्मणोपेतमि"ति वदता तावेव भक्त्यतिशयेनाऽऽगताविति सूचितम्।*

*साकारध्यानस्य रूपसन्निवेशोक्त्या विनाऽनुपपत्तेः अवशिष्टविशेषणोपादानं तत्राापि[1] दृष्टेः करुणापूरपूरिततया सर्वावयवसन्निवेश–विशेषोपलक्षणत्वेन ग्रहणमिति बोद्धव्यम्। इन्द्रनीलाद्युपमां परिहाय नीलोत्पलोपमया*

---

राम इस अर्थ का ज्ञान हो सकता है, फिर दोनों का उपन्यास व्यर्थ है – यह शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि दोनों भगवान् के प्रियपात्र हैं। एक को छोड़ कर भगवान् का अधूरा ध्यान करने से मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता। असंतुष्ट देवता अभीष्टसिद्धि नहीं कर सकता।

"रां + अं = रामं" इस मन्त्रस्वरूप वासुदेवस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के वाचक पदच्छेद के पक्ष में भी यही व्याख्या करनी चाहिए। जानकी परब्रह्म की माया है और लक्ष्मण उनके पञ्चप्राण। "उपेतजानकीलक्ष्मणम्" ऐसा न कहकर "जानकीलक्ष्मणोपेतम्" ऐसा कहते हुए यह सूचित किया गया है कि जानकी और लक्ष्मण दोनों ही अत्यंत भक्तिपूर्वक राम के पास वन जाने के लिए आए थे।

"नीलोत्पलश्यामं" और "राजीवलोचनं" इन दो अवशिष्ट विशेषणों का उपन्यास इसलिए किया गया है कि विना रूप–रंग के चित्रण के परब्रह्म परमात्मा राम का सगुण–साकार ध्यान करना संभव ही नहीं

---

१. "राजीवलोचनम्" इति विशेषणस्य सार्थकत्वं "दृष्टेः करुणापूरपूरितया" इति हेतोः उपन्यासेन साधितम्। तंत्र प्रमाणम् –"करुणारससम्पूर्ण–विशालोत्पललोचनः" (अध्यात्म० १/३/१८)। इति आविर्भावसमये जगन्नाथस्य परमात्मनो विशेषणं द्रष्टव्यम्।

श्यामरूपसमवायवति अङ्गमार्दवातिशयो व्यज्यते।

अथवैतानि विशेषणानि सर्वेभ्योऽप्यवतारेभ्यः श्रीरामावतारस्योत्कृष्टत्वद्योतकानि। तथाहि – "नीलोत्पलश्यामं" "राजीवलोचनमि"ति मत्स्यकूर्मवराहेभ्योऽतिशयो दर्शितः। "जानकी"त्यादिना नृसिंह–वामन–परशुरामेभ्यः, तेषामभिजनदारपरिग्रहाभावात्, "नक्तञ्चरान्तकमि"ति यदूनामन्तकाद् वासुदेवात् "स्वलीलयाऽवतीर्णमि"ति पाखण्डिलीलावतीर्णाद् बुद्धात्, "जगत् त्रातुमि"ति जगत्संहरणप्रवृत्तात् कल्किन इति।

---

है। इन दो विशेषणों में भी प्रथम विशेषण भगवान् के संपूर्ण अवयवों के विशिष्ट सन्निवेश को सूचित करता है और द्वितीय विशेषण उनकी करुणापूर्ण दृष्टि, (दयालुता) को। "नीलोत्पलश्यामं" का अर्थ है नीलकमल के समान साँवला। इन्द्रनीलमणि (नीलम) से भगवान् की तुलना न करते हुए नीलकमल के साथ उनके साँवले रूप की तुलना उनके अंगों की अत्यंत कोमलता को अभिव्यंजित कर रही है।

अथवा, ये सभी विशेषण सभी अवतारों से श्रीरामावतार की सर्वोत्कृष्टता द्योतित कर रहे हैं। देखिए, "नीलोत्पलश्यामम्" और "राजीवलोचनम्" ये दो विशेषण मत्स्य–कूर्म–वराहावतारों से रामावतार की उत्कृष्टता प्रदर्शित करते हैं। "जानकीलक्ष्मणोपेतम्" इस विशेषण से नृसिंह–वामन–परशुराम अवतारों से इस अवतार की श्रेष्ठता प्रकाशित होती है, क्योंकि उन अवतारों में पत्नीपरिग्रह (विवाह) नहीं किया गया है। "नक्तञ्चरान्तकम्" इस विशेषण से वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण से श्रीराम की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। (श्रीकृष्ण ने अपने ही कुल यदुवंश का संहार किया था, जबकि राम ने तामसी राक्षसों का)

*यद्यपि कल्की जगत्त्राणायैवाऽवतरिष्यति, तथापि तस्मिन् समये म्लेच्छप्रायं जगदिति तात्कालिको जगत्संहार एवाऽवशिष्यते।*

*उक्तं चाऽवतारान्तरेभ्यः श्रीरामस्य उत्कृष्टत्वम्–*

*"क्वचित्पृथुकतण्डुलाः क्वचन शाकशेषाशनं*
*क्वचित् पदमिता च भूर्नरहरेरभूत् तुष्टये ।*
*अयं विनिमयोऽभवत् भगवतोऽवतारान्तरे*
*न सोऽस्ति रघुनायके प्रणतिमात्रराज्यप्रदे ।।" इति।*

---

"स्वलीलया अवतीर्णम्" विशेषण यह सूचित करता है कि राम ने अपनी लीला से अवतार लिया था, जबकि बुद्ध ने पाखण्ड रचा था। "जगत् त्रातुम्" के द्वारा जगत् की रक्षा के लिए भविष्य में अवतार लेने वाले कल्की से रामावतार की विशेषता प्रकट होती है। यद्यपि उस अवतार का भी प्रयोजन जगत् की रक्षा करना ही है, तथापि उस समय संपूर्ण विश्व म्लेच्छ (आचार–भ्रष्ट) लोगों से व्याप्त रहेगा। अतः अन्त में उस समय समस्त जगत् का संहार ही अवशिष्ट रह जाता है।

अन्य अवतारों से श्रीरामावतार की उत्कृष्टता "क्वचित् पृथुकतण्डुलाः" इत्यादि पद्य में वर्णित है, जिसका आशय यह है – "कहीं (श्रीकृष्णावतार में) भक्त सुदामा को भगवान् का कृपाप्रसाद पाने के लिए विनिमय, (बदले में चिवड़ा–चावल) लगता है। द्रौपदी उन्हें प्रसन्न करने के लिए बदले में (सूर्य–स्थाली में) बची–खुची साग का सहारा लेती है। (वामनावतार में राजा बलि को) भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तीन पैरों के परिमाण की भूमि बदले में आवश्यक होती है। इस प्रकार अन्य अवतारों में भगवान् की प्रसन्नता के लिए भक्त को किसी न किसी वस्तु के विनिमय की आवश्यकता थी, जबकि रामावतार में भगवान् ने (भक्त विभीषण को) केवल नमस्कार से लंका का समस्त राज्य प्रदान किया, उन्हें किसी विनिमय की आवश्यकता नहीं थी।

*तथा मयाऽपि श्रीरामसूक्तिसागरेऽभिहितम्–*

*"तिर्यग्योनिषु जन्म नाऽऽश्रितमहो नाङ्गीकृता व्याहतिः*
*कापट्यस्य कथाऽपि काऽपि वचनं दुष्टं न मात्रेऽर्पितम् ।*

*स्वप्नेऽप्यन्यवधूकथा परिहृता पाखण्डवार्ता कुतः*
*कारुण्यैकनिधेस्तुला रघुपतेर्नातोऽवतारान्तरे ।।" इति।।*

---

मैंने (मुद्‌गलाचार्य ने भी) श्रीरामसूक्तिसागर में इस प्रकार वर्णन किया है – जिस प्रकार मत्स्य–कच्छप और वराह अवतार में भगवान् ने पशुयोनि का आश्रय लिया, उस प्रकार रामावतार में भगवान् को पशुयोनि का आश्रय लेना नहीं पड़ा। जिस प्रकार नरसिंहावतार में हिरण्यकशिपु के द्वारा खम्भे पर किए पदप्रहार को भगवान् ने स्वीकार किया, उस प्रकार के आघात को रामावतार में सहन नहीं करना पड़ा। श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने जिस कपटनीति का आश्रय लिया, उस कपट की बात ही छोड़िये, राम ने वनवास मिलने पर भी माता कैकेयी को दुष्ट वचन तक नहीं कहे। श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने सोलह हजार कन्याओं से विवाह किया था, जबकि रामावतार में उन्होनें स्वप्न में भी सीता को छोड़कर अन्य स्त्री का विचार तक नहीं किया । बुद्ध ने जिस प्रकार पाखण्ड लीला की थी, उस प्रकार की बात ही रामावतार में कहाँ उठती है ? करुणा के एकमात्र निधि दयासागर श्रीराम की तुलना अन्य अवतारों से नहीं की जा सकती।।३।।४।।

## मुख्यं कवचम्

**ॐ[1] शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः।**
**कौसलेयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः[2] श्रुती।।५।।**

*तदेवं पठनीयत्वेन विहितं वज्रपञ्जराख्यस्तोत्रमिदानीं विविच्यते[2]। तत्र मनुष्याणां शिरःप्रभृत्यवयवा वाच्या इति सूचयन् पञ्चश्लोक्या च सामान्यतः सर्वं श्रीरामचरितं संगृह्णन् रामरक्षाशब्दं चान्वर्थं चयन् चन्द्रचूड आह 'शिर' इति।*

---

## मुख्य कवच

**स्तोत्रार्थ :– ॐ "राघव" (रघुकुल में उत्पन्न श्रीराम) मेरे सिर की रक्षा करें। दशरथपुत्र श्रीराम मेरे ललाट की रक्षा करें। कौसल्या पुत्र श्रीराम मेरे दोनों नेत्रों की रक्षा करें। विश्वामित्र के प्रिय अथवा विश्वामित्र पर स्नेह करनेवाले श्रीराम मेरे दोनों कानों की रक्षा करें।।५।।**

**भाष्यार्थ :–** अब पाठ के योग्य जिसका विधान किया गया है, उस "वज्रपञ्जर" नामक स्तोत्र की विवेचना की जा रही है। उस पंचश्लोकी "रामकवच" में सिर से पैर तक सभी अवयवों की रक्षा की कामना की

---

१. ओङ्कारवाच्यं श्रीरामम् अहिल्या एवं स्तौति–
"ओङ्कारवाच्यस्त्वं राम ! वाचामविषयः पुमान् ।
वाच्यवाचकभेदेन भवानेन जगन्नमः।।"
(अध्यात्म० १/५/५३)

२. रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः।" (१/४/१२)
"योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ।
विश्वामित्रोऽपि रामाय तां योजयितुमागतः ।।"
(अध्यात्म १/४/१८–१६)

अतएव "विश्वामित्रः प्रियः यस्य सः" इति बहुब्रीहिसमासः संगच्छेत।

*अत्र सर्वेषामेव त्रैवर्णिकानामप्राप्तप्रार्थनायां कर्त्तृत्वद्योतनाय सर्वनाम्नोऽस्मदः प्रयोगो 'मे' इति। तस्य चात्र प्रथमतोऽभिधानं परार्थपाठे ऊहसौकर्याय, अन्यथा "मे" इत्यस्य स्थाने "ते" इत्यस्य "ऊह"प्राप्तौ क्वचिद्विस्मृतौ अनर्थप्रसक्तेः। तदुक्तम्–*

*"मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा*
*मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।*
*स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति*
*यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।"*

---

गयी है। और (राम के विविध विशेषणों द्वारा) सामान्य रूप से समग्र रामचरित का संकलन करते हुए "रामरक्षा" शब्द की सार्थकता प्रतिपादित की गयी है। (स्वप्न में दर्शन देकर भगवान् चन्द्रमौलीश्वर शंकर) महर्षि विश्वामित्र को रामरक्षास्तोत्र मन्त्र का उपदेश दे रहे हैं– **"शिरो मे राघवः पातु"** इत्यादि। (**"वज्रपञ्जर** और **'रामरक्षा'** दोनों इसी पञ्चश्लोकी स्तोत्र के भिन्न–भिन्न नाम हैं।)

**"शिरो मे राघवः पातु"** इस श्लोकांश में **"अस्मद्"** सर्वनाम का षष्ठी एकवचन में "मे" यह प्रयोग प्रार्थना का अवसर न मिलने पर भी सभी त्रैवर्णिक–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रामरक्षा पाठ कर सकते हैं, यह सूचित करता है। साथ ही "मे" यह सर्वप्रथम अभिधान दूसरों की मंगलकामना से किए गये पाठ में "ऊह" (सर्वनाम परिवर्तन) की सुविधा के लिए है। अन्यथा "मे" इस सर्वनाम के स्थान पर "ते" सर्वनाम की प्राप्ति हो और विस्मरण हो, तो अनर्थ की संभावना रहती है। जैसा कि "मंत्रो हीनः" इत्यादि प्रमाणवचन है, इसका आशय इस प्रकार है –

" कोई भी मन्त्र स्वर अथवा व्यंजन से रहित होने पर उसका मिथ्याप्रयोग उस प्रयोजन को व्यंजित नहीं करता, वह फल नहीं देता, प्रत्युत वह मंत्र वज्रवत् यजमान का अनिष्ट करता है। **"इन्द्रशत्रु"**

*ततश्च "शिरस्ते राघवः पातु" इति पाठो भवतीति कुशलैरवधारणीयम्। "पात्वि"त्येतस्यावृत्तिस्तु पठतिः इष्टदेवतानुकम्पाविशेषोत्पत्त्यै। "रक्षरक्षे"त्युक्ते ह्यध्येषणा कर्त्तरि ह्यनुकम्पातिशयो ज्यायसो मानसं प्रत्यक्षमेवाऽवलम्बते इति। नाऽत्र कल्पितत्वभ्रमः कार्यः। "पाहि राघवे"ति वक्तव्ये ईदृशोक्तिरध्येषणा – विषयत्वमस्याऽऽकूतयति। तेन चाऽऽत्मनोऽध्येषणाकर्त्तृत्वानुकूलं प्राक्तनसमस्तजन्मसम्भवस्याऽभावं व्यनक्ति। ये तु मन्दभाग्यानामपि 'रक्षेहि' त्यादिप्रयोगास्तेऽप्यकौशलद्योतका एवेत्यवसेयम्।*

*अत्र शिरःप्रभृतीनां रक्षणं नाम नोपस्थितशिरःशूलादिध्वंसनं, कौशिके तदभावात्। अतोऽनागततत्तत्प्रागभावपरिपालनमिति केचित्, तन्न। एवं*

---

इत्यादि मंत्र का विपरीत स्वरपाठ करने पर उस अपराध से यजमान का अनिष्ट होता है।

अतः (यजमान की कल्याण कामना के लिए किए गये पाठ के अवसर पर) "शिरस्ते राघवः पातु" यह पाठ होगा, इस तथ्य को कुशाग्रबुद्धि समझें। इस पञ्चश्लोकी में "पातु" इसकी ग्यारह बार आवृत्ति पाठकर्ता पर इष्टदेवता की विशिष्ट अनुकम्पा हो, इसलिए की गयी है। "रक्ष रक्ष" इस प्रकार उत्कृष्ट प्रार्थना करने पर पाठकर्ता परमात्मा की चरम अनुकम्पा का अनुभव मानसपटल पर प्रत्यक्ष करता है। इसे मात्र कल्पना अथवा भ्रम नहीं समझना चाहिए। "पाहि राघव" के स्थान पर "रक्ष.रक्ष" इस प्रकार की प्रार्थना पाठकर्ता की उत्कटता को उद्घाटित करती है। इससे यह अभिव्यंजित होता है कि प्रार्थना करने वाले ने अपने संपूर्ण पूर्वजन्मों में किसी प्रकार का पुण्यसंचय नहीं किया है। अभागों द्वारा किए गये "रक्ष रक्ष" इत्यादि प्रयोग उनकी मन्दता को सूचित करते हैं, यह निष्कर्ष है।

*व्याख्याने सर्वावयवेषु रामरक्षापाठकानां प्रत्यक्षतो रोगदर्शनात् शास्त्रस्य प्रत्यक्षतो विरोधेनाऽन्यपरत्वकल्पनापत्तेः। श्रुतौ "ग्रावाण" इतिवत्।*

*किञ्चेदं व्याख्यानं बिसच्छेदाय तीक्ष्णधारकुठारादानमनुकरोति। तथाहि – या शिरःप्रभृत्यवयवव्यथा अकिञ्चित्करैर्भेषजादिभिः निराकर्तुं शक्यन्ते तदर्थं परमात्मा प्रार्थ्यत इति।*

---

कुछ लोग इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं – यहां पर "शिरः पातु" इत्यादि का तात्पर्य केवल सिरदर्द आदि व्याधियों से रक्षा की कामना ही नहीं है, क्योंकि विश्वामित्र में वे व्याधियाँ ही नहीं है। अतः इसका तात्पर्य यह है कि पहले ही न रहने वाली सिर दर्द आदि व्याधियाँ रामरक्षा पाठकों तक न पहुँचें ऐसी कामना करना – 'अनागततत्तत्प्रागभावपरिपालनम्।' किन्तु इस प्रकार की व्याख्या तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि रामरक्षास्तोत्र के पाठकर्ताओं के सम्पूर्ण अवयवों में प्रत्यक्ष रोगं दृष्टिगोचर होते हैं, अतः शास्त्रवचन असंगत होगा, यह व्याख्या व्यभिचरित होगी और भिन्न व्याख्या करनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ– "ग्रावाणः ते" यह वैदिक प्रयोग है। इसका तात्पर्य यह है– "विशेष प्रकार के पत्थर ही संतरणक्षम होते हैं, सभी नहीं। "सभी प्रकार के पत्थर संतरणक्षम होते हैं" यह अर्थ करने पर शास्त्रवचन असंगत होगा। हम देखते हैं कि उन्हीं पत्थरों से "सेतुबन्ध" (पुल का निर्माण) होता है, जिनमें "राम" नाम अंकित होता है। वे ही संतरणक्षम होते हैं, अन्य नहीं।

और भी, इस प्रकार का व्याख्यान ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कमल की कोमल नाल काटने के लिए कोई तीखे धारवाली कुल्हाड़ी का प्रयोग करे। सिर दर्द आदि रोग छोटी–मोटी साधारण औषधियों से दूर किये जा सकते हैं, उनके लिए परमात्मा से प्रार्थना भी ठीक उसी प्रकार है।

*किञ्च, अनागतव्यथाप्रागभावपरिपालनमिति व्यथासामग्रीविघटनमेव कर्तव्यम्, कृशेषु पुष्ट्याधानलक्षणस्य मुमूर्षोर्जीवनाधानलक्षणस्य वा पालनस्य प्रागभावेऽसम्भवात्।*

*न च दृष्टसामग्रीविघटको राघव इति अदृष्टविघटकता क्रियायां वाच्या। न च सा क्रिययाऽनाराधिते जगदीश्वरे- सम्भवति। न च क्रियापेक्षायामीश्वरस्य व्याहतिरिति वाच्यम्, चक्रचीवराद्यपेक्षत्वे*

---

और भी–जिनका पूर्व अस्तित्व ही नहीं है, उन पीड़ाओं से रक्षा (अनागतव्यथाप्रागभावपरिपालनम्) इसका तात्पर्य समझना पीड़ा के कारण को ही नष्ट करना होगा। पर यह सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ– जो पहिले से ही दुर्बल होते हैं, उनकी पीड़ा उनकी दुर्बलता ही होती है, उन्हें किसी भी उपाय से ह्रष्ट–पुष्ट करना, शक्तिशाली बनाना असंभव होता है। उसी प्रकार जो पहले से ही मरणासन्न है, मृत्युभय ही उसकी पीड़ा है, उसे जीवनदान असंभव होता है। इस प्रकार पहिले से दुर्बल अथवा मरणासन्न व्यक्तियों की व्यथा का निदान संभव ही नहीं है।

चूँकि रामजी सिरदर्द आदि प्रत्यक्षगोचर कष्ट को नष्ट करते हैं, अतः पालनक्रिया का जो अर्थ प्रत्यक्ष नहीं है, उस कल्पित कष्ट का हरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि उन कष्टों से रक्षा भी बिना परमेश्वर की आराधना के हो नहीं सकती। केवल धातु अर्थ अपेक्षित होने पर ईश्वरत्व की उपेक्षा होगी यह शंका भी निर्मूल है। क्योंकि किसी भी कार्य में उपादान और निमित्त दोनों कारण आवश्यक होते हैं। उपादान कारण केवल चक्र–चीवर ही अपेक्षित नहीं होता, अपितु उसके लिए कुम्हार की भी नितरां आवश्यकता होती है। अतः जैसे केवल घटनिर्माण को अपेक्षित मानने पर उसका निमित्त कारण कुम्हार अनावश्यक प्रतीत होगा, उसी प्रकार "पा" 'धातु का अर्थ केवल पालन' अपेक्षित

*कुम्भकारत्वव्याहतिप्रसक्तेः। तस्मादत्र तेषां रक्षणं नाम मानससङ्कल्पोपजननद्वारा तत्तदवयवस्योपासनानुकूलक्रियाजनकत्वम्। तथा च श्रीमद्भागवते –*

*भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्*[१] *इत्यादिः। यदि तेषु तेष्ववयवेषु जगदीश्वराराधनानुकूलक्रियावत्ता न स्यादरक्षिता एव ते स्युरिति कुशला एव विदाङ्कुर्वन्तु।*

---

होने पर ईश्वर की भी आवश्यकता नहीं रहेगी, जबकि प्रत्येक क्रिया में ईश्वर ही निमित्त कारण होता है। अतः शिरो मे राघवः पातु इत्यादि वाक्यों में उन-उन अवयवों के रक्षण का यह अर्थ होगा कि भगवान् रामजी की कृपा से मेरे अथवा यजमान के वे वे सिर आदि अंग मेरे मानस-संकल्प से ईश्वर की उपासना के अनुकूल हों। पाठ के समय किसी प्रकार की विघ्न-बाधा उपस्थित न हो, पाठ निर्विघ्न संपन्न हो।

जैसा कि श्रीमद्भागवत में "भारः परं" इत्यादि दृष्टान्त वचन है। भक्त कामना करता है कि "किरीट पट्ट से सुशोभित होने पर भी मेरा मस्तक केवल भारस्वरूप ही है, यदि वह भगवान् मुकुन्दलाल के सामने न झुके।"

यहाँ भी श्रीकृष्णचरणों में निर्विघ्नरूप से नमन की कामना की गयी है। साथ ही पाठकर्ता के सिर आदि अंगों में यदि भगवान् की उपासना के अनुकूल क्रियाकलाप न हों तो वे पाठकर्ता अरक्षित ही रहेंगे इसे कुशाग्रबुद्धि अच्छी तरह समझ सकते हैं।

---

१. अस्य पद्यस्य उत्तरार्द्धम् इत्थम् –
"शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा।।"
(भागवते – १/३/२१)

*न चैवं शिरःशूलाद्युद्भवे स्तोत्रमंत्रस्य पाठः शिष्टैरनुष्ठीयमानो न युक्तः स्यादिति शंक्यम्, पाठमात्रस्य सर्वकामावाप्तिसाधनत्वेन विनियोगादारोग्यकामस्यापि पाठोपपत्तेः। तथा विनियुक्तस्याप्यर्थचिन्तायां प्रस्तुतायां योग्यस्यैव चाऽर्थस्य स्वीकर्त्तुमुचितत्वात्। ततश्च "शिरः पात्वि"ति स्वप्रणामासक्तं स्वगुणगणश्रवणे च घूर्णितं करोत्वित्यर्थः। "राघव" इति च रघुवंशेऽवतीर्ण इत्युक्तेः सकलवंशशिरोभूतरघुवंश–रक्षणाच्छिरोरक्षकताऽप्यस्योचितेति तात्पर्यार्थः।*

---

यह शंका भी समुचित नहीं है कि सिरदर्द आदि व्याधियाँ होने पर शिष्टों द्वारा इस स्तोत्रमंत्र का पाठ करना योग्य नहीं है। क्योंकि ("रामरक्षा" के "सर्वकामदा" विशेषण द्वारा) केवल पाठ का सभी मनोरथपूर्ति के उपाय के रूप में विनियोग होने के कारण आरोग्यकामना से अनुष्ठित पाठ की संगति लग जाती है। पाठ का विनियोग जिस अभीष्ट प्रयोजन से किया जाता है, उसी प्रयोजन को वहाँ स्वीकार करना समुचित है। अतः "शिरः पातु" का यह अर्थ होगा कि ईश्वर स्वयं प्रपाठकर्ता को अपने प्रति नतमस्तक करे और ईश्वरीय गुणगान सुनकर सिर हिलाने की प्रेरणा दे।

(इस पंचश्लोकी "रामकवच" में प्रत्येक अंग की रक्षा-कामना से श्रीराम के भिन्न-भिन्न विशेषण प्रयुक्त हैं, जो सार्थक हैं। उनमें) "राघव" का अर्थ है– "रघुकुल में अवतार लेने वाले। इसका तात्पर्य यह है कि जो संपूर्ण वंशों में शिरोमणि रघुकुल की रक्षा करते हैं, वे सिर की भी रक्षा कर सकते हैं। (अतः उनसे इस प्रकार की प्रार्थना करना समुचित ही है।)

*इदानीं रघुवंशे कस्य पुत्रः केन च प्रकारेण लब्ध इत्यत आह – "भालमि" ति। दशरथभालाक्षराणां पुत्रत्वोररीकरणेन पालितत्वादौचित्यम्। तथा – दशरथाः कार्या मत्स्यादयो यस्याऽसौ दशरथो विष्णुः।*

*"रथः स्यात् स्यंदने काये चरणे वेतसेऽपि च"– इति विश्वः।*

*स आत्मा स्वरूपमस्येति दशरथात्मा यज्ञः, "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतिः। तस्माज्जातः पुत्रेष्टिप्रभव इत्यर्थः। यद्वा प्रागुक्तव्युत्पत्त्यैव दशरथात्मा पयश्चरुः ततो जातः। अनेन ऋष्यश्रृङ्गानयनाद्याख्यानानि संगृह्यन्ते। तत्प्रसादचन्दनतद्भूपाङ्गारभस्म– धारण – तच्चरणसंघटनासक्तं भालं करोत्विति भावः।*

---

**भालं दशरथात्मजः** – इस श्लोकांश से यह ज्ञात होता है कि भगवान् राम रघुकुल में किसके पुत्र थे और किस उपाय से उनका जन्म हुआ। इस श्लोकचरण में दशरथ और भाल इन अक्षरों का पातु के साथ सम्बन्ध उन्हें (दशरथ के) आत्मज के स्वीकार करने पर ही समुचित है। दशरथात्मजः का समासविग्रह इस प्रकार है – दश रथाः = कायाः (मत्स्यादयोऽवताराः) यस्याऽसौ दशरथो विष्णुः स आत्मा स्वरूपमस्येति दशरथात्मा यज्ञः, तस्माज्जातः (दशरथात्मजः) पुत्रेष्टि–प्रभवः।" "दशरथ" शब्दमें "रथ" शब्द "शरीर"वाची है। "विश्वकोष" के अनुसार "रथ" शब्द के अनेक अर्थ हैं– रथ, शरीर, चरण और बेंत। (रथः स्यात् स्यन्दने काये चरणे वेतसेऽपि च) मत्स्य, कच्छप आदि दस अवतार लेने के कारण ही विष्णु दशरथ हैं। वे अवतार इस प्रकार हैं–

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किस्तथैव च।।

यज्ञ को विष्णु स्वरूप मानकर "दशरथात्मा" कहा गया है। इसमें श्रुतिप्रमाण है – यज्ञो वै विष्णुः। अतएव विष्णुस्वरूप यज्ञ को यज्ञ-

*कस्यां मातर्युत्पन्न इत्यत आह – कौसल्येय इति। कौसल्यायाः पुत्रदर्शनोत्सुके नेत्रे अनेन पालिते इत्यौचित्यम्। तत्प्रतिमादर्शन – तद्गुणश्रवणसम्भवानन्दजाश्रु में दूरे करोत्विति रहस्यम्।*

*इदानीं चरितानि वर्णयन्नाह – विश्वामित्र इति। श्रीरामोऽवतीर्ण इति सन्तोषहेतुश्रवणेन रक्षितौ विश्वामित्रकर्णावित्यौचित्यम्। अत्र*

---

नारायण भी कहते हैं। चूँकि राम पुत्रेष्टि यज्ञ से अवतीर्ण थे, अतः वे "दशरथात्मज" हैं। अथवा–पूर्वोक्त निर्वचन से "दशरथात्मा" का अर्थ खीर (पयश्चरु) है। यज्ञनारायण द्वारा प्रदत्त खीर को पीने से ही कौसल्या की कुक्षि से उनका जन्म हुआ था। इसलिए भी राघव "दशरथात्मज" हैं। इस विशेषण से ऋष्यशृंग ऋषि का पुत्रेष्टियाग के अवसर पर आवाहन आदि रामजन्म के पूर्व की आख्यायिकाएँ संकलित हैं। इस श्लोकांश का भाव यह है कि श्रीरामजी पाठकर्ता को अपने मस्तक पर प्रसादंस्वरूप चंदन और धूप का अंगारभस्म लगाने की तथा उनके चरणों पर माथा टेकने की प्रेरणा दे।

**कौसल्येयो दृशो पातुः** – (कौसल्यायाः अपत्य पुमान् कौसल्येयः" इस निर्वचन से) इस जिज्ञासा का समाधान होता है कि वे किसके पुत्र थे। इस विशेषण की सार्थकता यह है कि पुत्र दर्शन के लिए लालायित कौसल्या के नेत्रों की रक्षा भगवान् ने की थी। इस श्लोकांश का तात्पर्य यह है कि भगवान् रामचन्द्र अपनी प्रतिमा के दर्शन और अपने गुणश्रवण से प्रवाहित आनन्दाश्रुओं को हटाएँ, जिससे पाठकर्ता का पाठ निर्विघ्न सम्पन्न हो।

अब चरित्रों का प्रतिपादन इस प्रकार किया जा रहा है – **विश्वामित्रप्रियः श्रुती।** श्रीराम ने अवतार लिया यह सुनकर विश्वामित्र परम संतुष्ट हुए।

*षष्ठीतत्पुरुषेण श्रीरामयाचनायां विश्वामित्रो दशरथं प्रत्यागतवानित्याख्यायिका सूचिता। न हि यद्यस्य प्रियं भवति, स तद् याचते। बहुव्रीहिणा च ताडकावध आकूत्यते। न हि यस्य यः प्रियो न भवति, स तं भय उपस्थिते रक्षति। पुनश्च षष्ठीतत्पुरुषाश्रयणेन बलाऽतिबलयोर्विद्ययोस्तथा नैर्ऋतघ्नास्त्रस्योपदेशस्याख्यानमाकूतितं वेदितव्यम्। न ह्यप्रीतिपात्रं कश्चिदुपदिशति। श्रुती सदा स्वीयगुणगणाकर्णने कर्णशष्कुल्यौ नैर्माल्यतुलसीधारणे विनियोजयत्वित्याकूतम् ।।५।।*

---

**विश्वामित्रप्रियः** इस पद का समासविग्रह दो प्रकार से होता है– **(१) विश्वामित्रस्य प्रियः** (विश्वामित्र का प्रिय) यह षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर यह आख्यायिका ज्ञात होती है कि राक्षसों से यज्ञों की रक्षा की कामना से श्रीराम को अपने आश्रम में ले जाने हेतु याचना करने के लिए विश्वामित्र मुनि दशरथ के निकट आए। जो जिसको प्रिय नहीं होता, वह उस वस्तु की याचना नहीं करता । **(२) विश्वामित्रः प्रियः यस्य सः** यह षष्ठी बहुव्रीहि समास करने पर इसका अर्थ होगा– विश्वामित्र महर्षि श्रीरामजी के प्रियपात्र थे। इससे ताड़कावध की कथा का संकेत प्राप्त होता है, क्योंकि जो जिसका प्रियपात्र नहीं होता, वह आपत्ति आने पर भी उसकी रक्षा नहीं करता। पुनश्च, षष्ठी तत्पुरुष समास का आश्रय लेने पर विश्वामित्र द्वारा श्रीरामजी को बला-अतिबला दो मन्त्र विद्याओं का और जिससे राक्षसों का संहार किया जाता है उस "नैर्ऋतघ्नास्त्र" का उपदेशाख्यान विदित होता है। क्योंकि जो प्रियपात्र नहीं होता उसे कोई विद्योपदेश नहीं देता। भगवान् राम पाठकर्ता के कानों को अपनी गुणपरंपरा का श्रवण और उन पर तुलसी–निर्माल्य को धारण करने के लिए प्रेरित करें ।।५।।

घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः।
जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः[1]।। ६ ।।

*तदुत्तरचरितमाह– घ्राणमिति। द्वितीयसृष्टिकुशलस्याऽपि विश्वामित्रस्य स्वीययज्ञरक्षणासामर्थ्येनाऽस्य छिन्नैव नासिकाऽभूत्, सा च मखरक्षणेन रक्षितैवेत्यौचित्यम्। अनेन सुबाहुप्रमुखराक्षसवधाख्यानं*

---

***स्तोत्रार्थ :– "मखत्राता" = यज्ञों की रक्षा करने वाले श्रीराम नासिका की रक्षा करें। "सौमित्रिवत्सल" = सुमित्रानन्दन लक्ष्मण पर वात्सल्यभाव रखने वाले श्रीराम मुख की रक्षा करें। "विद्यानिधि" श्रीराम रसनेन्द्रिय की रक्षा करें और "भरत–वन्दित" श्रीराम कण्ठ की रक्षा करें ।। ६ ।।***

**भाष्यार्थ :– शिवजी श्रीराम जी के उत्तरचरित्र का निरूपण कर रहे हैं – घ्राणं पातु मखत्राता। यद्यपि महर्षि विश्वामित्र दूसरी सृष्टि करने में समर्थ थे, तथापि अपने यज्ञ की रक्षा करने में समर्थ न होने के कारण उनकी "नाक कट गयी।" अतः यज्ञ की रक्षा करने वाले**

---

१. "भरतवन्दितः" इस विशेषण का औचित्य "अध्यात्मरामायण" के इन पद्यों से प्रमाणित है–
"पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते ।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव।।
इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः ।
रामस्य ते ददौ रामो भरतायाऽतिभक्तितः।।
गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते ।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः।।" (२/९/४६–५१)
"भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते ।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः।।" (६/१४/६३)

*सूचितम्। नैर्माल्यमाल्यनिवेदितधूप–धूम्राघ्राणासक्तं करोत्वित्यर्थः। यद्यप्यत्र घ्राणस्य क्लेशा एव न प्रतिभान्ति, तथापि इतरपरिवर्जनसंकल्पाभाव एव क्लेशः, अनिवेदितपुष्पधूपादिपरिमलग्रहणवर्जने तात्पर्यात्।*

*मुखं सौमित्री ति। सौमित्रिणा किल दीनवदनेन धनुर्दिदृक्षया "मिथिला गन्तव्ये"ति प्रार्थितः श्रीरामो वत्सलतया तथाऽकरोदिति तन्मुखनिरीक्षणादौचित्यम्। अनेन शतानन्दागमाद्याख्यायिका सङ्गृहीता। तत्प्रतिमाभिमुखं सदा करोत्विति भावः।*

---

श्रीरामजी से "नाक बचाने की" प्रार्थना समुचित ही है। क्योंकि श्रीरामजी ने यज्ञ–रक्षा कर विश्वामित्र मुनि की "नाक बचायी थी।" यद्यपि यहाँ नासिका में कोई भी क्लेश प्रतीत नहीं होता, तथापि रामरक्षास्तोत्र के पाठक की मुख्य पीड़ा यही है कि जो माला–फूल–धूप श्रीराम को समर्पित नहीं है, उनकी गन्ध नाक में जाती है। उसे रोका नहीं जा सकता। अतः वह गन्ध नासिका में न जाय, निवेदित माला–फूल, धूप का गन्ध नासिका में जाय यही "नाक की बचाने"की प्रार्थना का तात्पर्य है।

**मुखं सौमित्रिवत्सलः** – सुमित्रायाः अपत्यं पुमान् सौमित्रिः = सुमित्रानन्दनो लक्ष्मणः, स वत्सलः यस्य सः इस निर्वचन के अनुसार "सौमित्रिवत्सल" पद का अर्थ यह है कि रामचन्द्र जी सुमित्रातनय लक्ष्मण पर स्नेह करते थे। लक्ष्मण ने जब "दीनवदन" होकर, गिड़गिड़ाकर शिव–धनुष को देखने की इच्छा से "मिथिला चलना चाहिए"– यह प्रार्थना की, तब श्रीरामजी ने स्नेहभाव से वैसा ही किया। उस समय लक्ष्मण श्रीरामजी का मुख निहार रहे थे, इसलिए इस पदविन्यास की सार्थकता है। इस श्लोकांश से शतानन्द महर्षि आदि के आगमन की आख्यायिका संकलित है। इसका आशय यह है कि श्रीराम जी रामरक्षास्तोत्र के पाठक को सदा अपनी प्रतिमा के सम्मुख मुख कर स्तोत्र पाठ के लिए प्रेरित करें।

*"जिह्वामि" ति। विद्या—शब्देन ज्ञानसामान्यवाचिना, सर्वविषयकज्ञानविशेषो लक्ष्यते। एवं च "गौतमशापं ज्ञात्वैव श्रीरामः शिलामारुरोह, न प्रसङ्गतः" इति लभ्यते। "श्रीरामपादरजसा पुनरहल्या भविष्यसी"ति गौतमजिह्वोच्चरिताक्षराणामवितथभावो विधानादौचित्यम्। तत्स्तुतौ आदररतां तदीयनिवेदितनैवेद्यरसासक्तां तां करोत्वित्याकूतम्।*

*"कण्ठमि" ति। 'भरतः शबरे नटे' इति विश्वः। ततश्च नटैर्वर्णनानिपुणैर्वर्णित इत्यर्थः। वदि अभिवादनस्तुत्योरिति स्मृतेः शिलायां मनुष्यत्वसम्पादने नातिचमत्कारात् तैर्विशेषज्ञैरपि स्तुतः, "किमुत*

---

**जिह्वां विद्यानिधिः पातु** – (विद्यानां निधिः विद्यानिधिः – श्रीराम जी समस्त (चौदह अथवा अट्ठारह) विद्याओं के आकर थे। इस समस्त पद में सामान्य ज्ञान के वाचक "विद्या" शब्द से संपूर्ण विद्याओं में निहित विशिष्ट ज्ञान अर्थ लक्षित हो रहा है। इससे यह अर्थ अभिव्यक्त होता है कि श्रीराम जी ने अन्तर्दृष्टि द्वारा महर्षि गौतम के शाप का ज्ञान प्राप्त कर शिला पर आरोहण किया था, प्रसंगवश नहीं। अहल्या को शिला बन जाने का शाप देने के बाद महर्षि गौतम की जीभ से ये अक्षर दयालुतावश निकल पड़े – "श्रीराम जी की चरणधूलि से पुनः तुम शिला से अहल्या बन जाओगी।" वे अक्षर असत्य न हों, इसलिए श्रीराम जी ने शिला पर आरोहण कर अहल्या का उद्धार किया। रामजी "विद्यानिधि" होने के कारण पहिले से ही यह जानते थे, अतएव यह पद सार्थक है। श्रीराम जी भक्त को सादर रामरक्षास्तुति पाठ के लिए और समर्पित नैवेद्य का रसास्वाद ग्रहण के लिए प्रेरित करों" यही इस श्लोकांश का आशय है।

**कण्ठं भरतवन्दितः** – इस श्लोकांश में "भरतवन्दित" पद के दो समासविग्रह है – "भरतैः वन्दितः भरतवन्दितः" इस तृतीया तत्पुरुष समासविग्रह के अनुसार इसका आशय होगा चारणों द्वारा वर्णित। विश्वकोष का वचन है – भरतः शबरे नटे। भरत शब्द के अनेक अर्थों

*विशेषज्ञैर्महर्षिभिरिति कैमुतिकन्यायोऽत्र द्रष्टव्यः। स्तुतिं पठतां तेषां कण्ठरक्षणादौचित्यम्। नैर्मल्यमाल्यादिधारणासक्तं करोत्विति तात्पर्यम्।।६।।*

**स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुकः।**
**करौ सीतापतिः पातु[1] हृदयं जामदग्न्यजित्।।७।।**

---

में उसका एक अर्थ भील और दूसरा चारण है। (वदि + क्त = वन्दित। वदि अभिवादनस्तुत्योः धातुपाठ में "वदि"धातु के दो अर्थ हैं– अभिवादन और स्तुति। इस प्रकार भरत शब्द का चारण और वन्दित शब्द का वर्णित अर्थ है।[2] कैमुतिकन्याय के अनुसार इस का आशय होगा– "शिला को मनुष्य (अहल्या) बनाना अत्यंत विलक्षण चमत्कार था, उससे चमत्कृत होकर चारणों ने रामब्रह्म के विशिष्ट मर्म को न जानते हुए भी जब श्रीराम जी की स्तुति की थी, फिर ब्रह्मवेत्ता (वाल्मीकि आदि) महर्षियों ने रामायण आदि की रचना द्वारा श्रीराम जी का वर्णन किया, इसमें कहना ही क्या है ? रामजी के भजन गाने वाले गायकों के कण्ठ की रक्षा रामजी ही करते हैं, अतएव "भरतवन्दित" पद का प्रयोग सार्थक है। पूर्णचरण का आशय यह है– "श्रीराम जी रामरक्षा स्तोत्र के पाठक को अपनी प्रतिमा को समर्पित माला कण्ठ में धारण के लिए प्रेरित करे ।।६।।

***स्तोत्रार्थ :– "दिव्यायुध" (दिव्य आयुधों से विभूषित) श्रीराम दोनों स्कन्धों की रक्षा करें। "भग्नेशकार्मुक" शिवधनुष का भंजन***

---

१. आदिकवि वाल्मीकि श्रीराम से कहते हैं –
"त्वन्मन्त्राजापको यस्तु त्वामेव शरणं गतः ।
निर्द्वन्द्वो निस्पृहस्तस्य हृदयं ते सुमन्दिरम् ।। (अध्यात्म० २/६/५६)
मन्त्रजापक का ह्रदय ही श्रीराम जी का मंदिर होने के कारण इस प्रार्थना का औचित्य है।

२. वाक्य में "किमुत" का प्रयोग कैमुतिक न्याय कहलाता है।

*"स्कन्धावि"ति। हरचापजिघृक्षया स्वधनुषोऽन्यस्कन्धप्रक्षेपेण तत्स्कन्धस्य रक्षणादौचित्यम्। दिव्यमायुधं यस्येति, हरचापधर इत्यर्थः। महोत्सवे तच्छिविकादिवाहनासक्तौ (स्कन्धौ) करोत्विति तात्पर्यम्।*

*"भुजावि" ति। क्षत्रियाणां किल भुजाः तेन कार्मुकेण व्यापादिता इवाऽऽसन्, ते च श्रीरघुनाथेन तद्भंगाद् रक्षिता इत्यौचित्यम्। तत्पूजासम्भांरादिभारसहिष्णू (भुजौ) करोत्विति भावः।*

---

***करने वाले श्रीराम दोनों भुजाओं की रक्षा करें। "सीतापति" राम दोनों करों की रक्षा करें। "जामदग्न्यजित्" परशुराम को जीतने वाले श्रीराम हृदय की रक्षा करें ॥ ७ ॥***

**भाष्यार्थ :– स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु** – श्रीराम जी के दिव्यायुध विशेषण की सार्थकता यह है कि श्रीराम जी ने शिवधनुष को उठाने की इच्छा से अपने धनुष को दूसरों के कन्धों पर रखा और उन कन्धों की रक्षा की। "दिव्यम् आयुधं यस्य सः" इस षष्ठी बहुव्रीहि समासविग्रह के अनुसार यह अर्थ होगा – शिवजी के (दिव्य आयुध) धनुष को धारण करने वाले। इसका आशय यह है कि भगवान् श्रीराम अपने महोत्सवों में अपनी पालकी कन्धों पर धारण करने की सद्बुद्धि और शक्ति दोनों प्रदान करें।

**भुजौ भग्नेशकार्मुकः** "भग्नः ईशस्य कार्मुकः येन सः भग्नेशकार्मुकः" इस निर्वचन के अनुसार **भग्नेशकार्मुक** पद की सार्थकता यह है कि जिस धनुष ने क्षत्रियों की भुजाओं को नष्ट सा किया था, उस शिवधनुष का भंजन कर उन भुजाओं की रक्षा की थी। श्रीरामजी रामरक्षास्तोत्र के पाठकों को भुजाओं की अपनी पूजा-सामग्री की भारवाहनक्षमता प्रदान करें, यही इसका आशय है।

*"करावि"ति। करग्रहणेन सीताकरयो रक्षितत्वादौचित्यम्। पूजाद्यासक्तौ (करौ) करोत्विति तात्पर्यम्।*

*हृदयमिति। जागदग्न्यमनोऽवलेपापहारादौचित्यम्। ध्यानाद्यासक्तं करोत्विति हृदयम्। अनेन च वनवासाद्यगङ्गीकारादिवृत्तान्तोऽप्युक्तः। जामदग्न्येन महच्चरितमेतदेव कृतं यत् पितुराज्ञापालनम्। ततोऽप्यधिकतया पितुराज्ञाकरणात् तस्य जयं कृतवानिति। स हि पितुराज्ञया परपीडां कृतवान् । अयं च स्वपीडां स्वीयपीडां चाऽनल्पसमय सम्भवामित्युत्कर्षः सुबुद्भिरवसेयः।*

---

**करौ सीतापतिः पातुः** – श्रीराम के द्वारा स्वयंवर से सीता का पाणिग्रहण करते हुए उन हाथों की रक्षा करने के कारण उनका "सीतापति" विशेषण सार्थक है। श्रीराम जी पाठकर्ता के दोनों करकमलों को अपनी पूजा आदि में प्रवृत्त करें यह इसका आशय है।

**हृदयं जामदग्न्यजित्** – जमदग्नेः अपत्यं पुमान् जामदग्न्यः = परशुरामः, तं जयतीति जामदग्न्यजित् दाशरथी रामः। जमदग्नि महर्षि के पुत्र परशुराम को जीतने वाले दाशरथी राम हृदय की रक्षा करें। "जामदग्न्यजित्" इस विशेषण की सार्थकता यह है कि श्रीरामजी ने जगदग्निपुत्र परशुराम के अहंकारजन्य अज्ञानमल को दूर किया था। श्रीरामजी पाठकर्ता के अन्तःकरण को ध्यान आदि में आसक्त करें।

इस चरण से श्रीरामजी के द्वारा वनवास आदि को स्वीकार करने की घटना सूचित की गयी है। परशुराम के चरित्र का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन किया। रामजी ने उससे भी अधिक पिता की आज्ञा का पालन करते हुए परशुराम को जीत लिया था। परशुराम ने पिता की आज्ञा का पालन कर दूसरों को सताया, जबकि राम ने चौदह वर्ष की लम्बी वनवास की अवधि में स्वयं को और स्वकीयों को संतप्त किया। इस वैशिष्ट्य को कुशाग्र बुद्धि ही समझ सकते है।

*अत्रापि भरतवन्दितः, "सौमित्रिवत्सलः" इत्येतत् द्रष्टव्यम्। भरतशब्दस्य तदनुजवचनतया भरतागमनादिवृत्तान्तोक्तिः, सौमित्रिर्वत्सलो यस्येति च लक्ष्मणविहितसेवोक्तिश्च ।। ७।।*

**मध्यं पातु खरध्वंसी नाभिं जाम्बवदाश्रयः।**
**सुग्रीवेशः कटिं पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः ।। ८।।**

*"मध्यमि" ति। स्वगृहान्निर्गत्य यावत् पञ्चवटीनिवासं राक्षसेभ्यः सीतालक्ष्मणयो रक्षितत्वादौचित्यम्। खरशब्द – चतुर्दशसहस्रसंख्याक–रक्षोगणोपलक्षणार्थः। यद्वा – खम् = आकाशं, राति = मार्गत्वेनोपादत्ते*

---

यहाँ पर भी भरतवन्दितः सौमित्रिवत्सलः रामः हृदयं पातु" यह अन्वय करना चाहिए। "भरतेन = तदनुजेन वन्दितः = नमस्कृतः भरतवन्दितः" इस निर्वचन के अनुसार "भरतवन्दितः" पद का अर्थ होगा– अनुज भरत द्वारा नमस्कृत श्रीराम। इस पद में भारद्वाज आश्रम में भरत के आगमन की सूचना संकेतित है। "सौमित्रिः वत्सलः यस्य सः सौमित्रिवत्सलः" इस निर्वचन के अनुसार इस विशेषण से लक्ष्मणद्वारा श्रीरामजी की सेवा का ज्ञान होता है ।। ७ ।।

***स्तोत्रार्थ :– "खरध्वंसी" श्रीराम मध्य की रक्षा करें। जाम्बवान् के आश्रयदाता श्रीराम नाभि की रक्षा करें। "सुग्रीवेश" श्रीराम कमर की रक्षा करें। हनुमत्प्रभु श्रीराम दोनों पिण्डलियों की रक्षा करें।।८ ।।***

भाष्यार्थ :– मध्यं पातु खरध्वंसी – अपने घर से निकल कर पञ्चवटी आश्रम में निवास करने तक राक्षसों से सीता और लक्ष्मण की रक्षा करने के कारण "खरध्वंसी" विशेषण सार्थक है। (खर शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें) यह शब्द खर नामक राक्षस का वाचक न होकर चौदह हजार राक्षसों के समूह का उपलक्षक (प्रतीक) है। अथवा "खम् आकाशम्, राति मार्गत्वेन उपादत्ते इति खरः" इस निर्वचन के अनुसार भी "खर" शब्द का अर्थ आकाशमार्ग से विचरण करने वाले राक्षसों का समूह है। उनका संहारकर्ता "खरध्वंसी" है। (इस पद्य से अग्रिम पद्य

*इति खरः = रक्षःसमूहः, तद्ध्वंसीत्यर्थः। मध्य–नाभिकटि–सक्थि–जानु–जंघासु तदुपभुक्तवासोधारणासक्तत्वमेव रक्षणमित्यवसेयम्। अनेन च मारीचवधोपाख्यानमप्युक्तं भवति। अपि वा इममेव योगमाश्रित्य "खर"शब्देन जटायुं बुद्धिस्थीकृत्य तस्य यो ध्वसः सोऽस्त्यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या "जटायुमुक्तिदाते" त्युक्तेरुत्तरोपाख्यानमपि सूचितमिति मन्तव्यम्।*

*"नाभिमि" ति। जाम्बवान् किल सुग्रीवसचिवः पम्पाप्रदेशे विचरन्तं श्रीराममाकर्ण्य सुग्रीवमुपदिदेश – "अनेन सख्ये कृते वालिनं जेष्याम" इति। तदेतदुक्तम् – जाम्बवदाश्रय इति। तस्य च ऋक्षत्वेन कठिनपृष्ठतया तत्र वालिकृताभिघातजन्यभयाभावेऽपि नाभिदेशस्याऽति – मृदुत्वात् तत्रैवाऽभिघातभीतस्य स्वीयत्वसम्पादनेन रक्षितत्वादौचित्यम्।*

---

तक निरूपित) मध्य आदि की रक्षा की प्रार्थना का यह तात्पर्य है कि श्रीराम जी अपनी प्रतिमा को भक्तों को चढ़ाए गए वस्त्रों को धारण करने की प्रेरणा दें, जिससे वे भक्त अपने मध्यभाग – नाभि – कमर– पिण्डली – जानु और जंघा में धारण कर सकें। इस श्लोकांश से मारीचवध का कथानक भी विदित होता है। अथवा इसी निर्वचन का अवलम्बन करते हुए "खर" शब्द का अर्थ होगा – आकाशविहारी पक्षी जटायु और "खरध्वंसी" शब्द का अर्थ होगा – उसके मुक्तिदाता श्रीराम । इस प्रकार इसके बाद का आख्यान भी इससे सूचित होता है।

**नाभिं जाम्बवदाश्रयः** – (रीछों का राजा)जाम्बवान् सुग्रीव का सचिव था। उसने पम्पा सरोवर के परिसर में श्रीराम के विचरण का समाचार सुनकर सुग्रीव को यह उपदेश दिया – "हम लोग इसके साथ मित्रता करने पर वाली पर विजय प्राप्त करेगें। इसलिए "जाम्बवदाश्रय" विशेषण का प्रयोग किया गया है। जाम्बवता आश्रयः = जाम्बवदाश्रयः। जाम्बवान् के आश्रयदाता श्रीराम थे। वह जन्म से रीछ था। उसकी पीठ मजबूत और कठोर थी। उस पर वाली द्वारा

*सुग्रीवेश इति। "सुग्रीवस्य ईशः सुग्रीवेशः" इति षष्ठीसमासे "सुग्रीवो यदा श्रीरामं स्वामित्वेन स्वीचकार, तदा दुन्दुभिकायोच्चाटन – सप्तपातालभेदनपरीक्षापूर्वं स्वीचकारे"ति वृत्तान्तः सर्वोऽपि सूच्यते।*

**कटिं** *पात्विति। वालिभयाद् ऋष्यमूकपर्वतगुहामात्रनिलयत्वेन भग्नकटिभागस्य सुग्रीवस्य स्वामित्वेनोत्तरकालं वालिवधेन तत्कटिरक्षणादौचित्यम्। "सुग्रीव ईशोऽनेने"ति बहुव्रीह्याश्रयणेन च किष्किन्धायां राजसिंहासनाभिषेके अंगदादिकपिस्वाम्यं सीताशुद्ध्यर्थं हनुमदादिप्रेषणं चेत्यादि वृत्तान्ताव्यञ्जनं ज्ञेयम्।*

---

किये गये आघात से कोई भय नहीं था। तथापि उसकी नाभि अत्यंत कोमल थी, उस पर आघात की कल्पना से वह भीत था। जाम्बवान् को आत्मीय बनाकर श्रीराम ने सुग्रीव की रक्षा की थी। अतः यह विशेषण सार्थक है।

**सुग्रीवेशः कटिं पातु** – "सुग्रीवस्य ईशः सुग्रीवेशः" यह षष्ठी–तत्पुरुष समासविग्रह करने पर इस विशेषण का अर्थ होगा – सुग्रीव का स्वामी। इससे यह ज्ञात होता है कि सुग्रीव ने श्रीराम जी को तभी अपना स्वामी स्वीकार किया, जब उसने उनकी परीक्षा ली और उन्होंने दुन्दुभि राक्षस के शरीर के उच्चाटन के साथ ही अपने बाण से सात पाताल लोकों का भेदन कर वह परीक्षा समुत्तीर्ण की।

**कटिं पातु** – सुग्रीव वालि के भय से जब ऋष्यमूक पर्वत की गुफा में जा छिपा, तब उसकी "कमर टूट गयी।" उसका स्वामित्व स्वींकार करने के अनन्तर श्रीराम जी ने उसके कटि की रक्षा की थी। अतएव इस प्रार्थना की सार्थकता है। 'सुग्रीवः ईशः अनेन इति सुग्रीवेशः' यह बहुव्रीहि समास करने पर यह ज्ञात होता है कि श्रीराम जी के द्वारा किष्किन्धा नगरी में राज्य–सिंहासन पर अभिषिक्त होने पर सुग्रीव अंगद आदि वानरों का स्वामी बन बैठा और उसने सीता को खोजने

*सक्थिनी इति। समुद्रोल्लंघने हनुमतः सक्थिलाघवापादनेन रक्षणादौचित्यम्। "हनुमान् प्रभुः येने"ति व्युत्पत्त्या समुद्रोल्लंघनवनभञ्जनादिराक्षसवधाख्यायिका सूचिता। हनूमतः प्रभुः इति व्युत्पत्त्या तु द्रोणाद्याहरणादिरपि वृत्तान्तः सूच्यते ।। ८ ।।*

**उरू रघूत्तमः पातु रक्षःकुलविनाशकृत्[1]।**
**जानुनी सेतुकृत् पातु जंघे दशमुखान्तकः।**
**पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः।।६।।**

---

के लिए हनुमान् आदि वानरों को सभी दिशाओं में भेजा।

**सक्थिनी हनुमत्प्रभुः** – यह प्रार्थना इसलिए समुचित है कि भगवान् राम ने समुद्रोल्लंघन के अवसर पर हनुमान् जी की पिण्डलियों में लाघव का सम्पादन कर उनकी रक्षा की थी। अत एव "हनुमत्प्रभुः" यह विशेषण सार्थक है। "हनुमान् प्रभुः येन सः हनुमत्प्रभुः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ यह अर्थ होगा कि श्रीराम जी ने हनुमान् को "प्रभु" = सर्वसमर्थ बनाया, जिसके बल पर वे समुद्र लाँघ गए, लंका की अशोक–वाटिका को तहस–नहस किया और राक्षसों का संहार किया। "हनुमतः प्रभुः" इस षष्ठी तत्पुरुष समास के अनुसार यह घटना ज्ञात होती है कि अपने स्वामी श्रीरामजी की आज्ञा से हनुमान् जी ने द्रोणाचल पर्वत को उठाकर प्रभु के पास पहुँचा दिया ।। ८ ।।

***स्तोत्रार्थ – राक्षसों के कुल का विनाश करने वाले रघुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ श्रीराम मेरी दोनों ऊरुओं की रक्षा करें। (समुद्र पर) सेतु का निर्माण कराने वाले श्रीराम मेरी दोनों जंघाओं की रक्षा करें। विभीषण***

---

१. "गुह्यं रक्षःकुलान्तकृत्" – पाठान्तरम् आनन्दरामायणे।

*ऊरू इति।*

*स्वभक्तैर्हनुमदादिभिः संवाहनादि कर्तुं श्रीरामपदपंकजधारणादुर्वोः संरक्षणमुचितम्।*

*जानुनी इति। सेतुबन्धनेन समुद्रप्लवनसंभावितकपिजानुक्लेशापहरणादौचित्यम्।*

*जंघे इति। विराट्स्वरूपापेक्षया भूर्लोकस्य जंघास्थानीयत्वाद् रावणवधेन तस्य रक्षणादौचित्यम्।*

*पादाविति। लंकायां पुरि विभीषणाभिषेके तच्चरणयो रक्षोयूथपशिरोमुकुटमणिमरीचिनीराजितयोः रक्षणादौचित्यम्।*

---

***को (लंका की) राज्यश्री प्रदान करने वाले श्रीराम मेरे दोनों चरणों की रक्षा करें। श्रीराम जी मेरे सम्पूर्ण शरीर की रक्षा करें ।। ६ ।।***

**भाष्यार्थ :— ऊरू इत्यादि। श्रीराम जी अपने भक्त हनुमान् आदि द्वारा संवाहन (मालिश) कराने के लिए चरण कमलों को धारण करते है। अतः उनसे दोनों ऊरुओं की रक्षा—प्रार्थना समुचित ही है।**

**जानुनी इत्यादि। श्रीराम जी ने सेतु—निर्माण के द्वारा वानरों के घुटनों की पीड़ा दूर की, जो समुद्र पर उड़ान करने से हुई थी। अतः उनमें घुटनों की रक्षा—प्रार्थना समुचित है।**

**परब्रह्म स्वरूप श्रीराम "विराट्" हैं, उसमें भूर्लोक उनका जंघा है। वहाँ पर रावणवध के द्वारा भूर्लोक की रक्षा की गयी है। उनसे ऊरु और जंघा की रक्षाप्रार्थना समुचित ही है।**

**पादौ इत्यादि। लंकानगरी में विभीषण के राज्याभिषेक के समय राक्षसों की सेना के सेनापतियों ने अपने शिरोमुकुटमणियों की किरणावली से श्रीराम जी के चरणकमलों की आरती उतारी थी। अतः उनसे उन**

*तदालययात्राद्यासक्तौ (पादौ) करोत्विति रहस्यम्।*

*तदेवं यौगिकनामभिः दशवदनवधान्तं श्रीरामचरितं प्रतिपाद्य इदानीं पातालादिसत्यलोकान्तस्य लोकशरीरस्य रक्षणायाऽवतीर्णो भगवान् इत्यखिलं वपुरित्यनेन सूचयन् अवयवी अवयवातिरिक्त इति मतमनुसरन् भवानीवल्लभो रूढेन भगवन्नाम्ना भक्तशरीरस्य दासत्वाकारेण परिग्रहलक्षणरक्षणमभिधत्ते पातु राम इति।*

---

चरणों की रक्षाप्रार्थना सार्थक है। इसका गूढार्थ यह है कि श्रीराम जी पाठकर्ता के चरणों को राम-मन्दिर यात्रा आदि के लिए तत्पर करें'।[१]

इस प्रकार (राघव" से लेकर "विभीषणश्रीदः" तक विभिन्न, बीस यौगिक नामों से श्रीरामचरित का निरूपण कर अब यह सूचित कर रहे हैं कि पाताललोक से सत्यलोक तक अखिल विश्व (ब्रह्माण्ड) श्रीरामजी का ही शरीर है। पार्वतीपति विश्वनाथ "अवयवी अवयव से भिन्न होता है" इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए भगवान् के प्रसिद्ध "रूढ" "राम" नाम द्वारा दास के रूप में अवतीर्ण भक्त के सम्पूर्ण शरीर के परिग्रह (पालन) की प्रार्थना कर रहे हैं– "पातु रामोऽखिलं वपुः"– भगवान् राम मेरे समस्त शरीर की रक्षा करें।

---

१. "अध्यात्म रामायण" के अग्रिम पद्य चरणभक्ति की दृष्टि से तुलनीय हैं। ब्रह्मा परमात्मा की स्तुति कर रहे हैं –

"तवांऽघ्रिपूजानिर्माल्यतुलसीमालया विभो ! ।।
स्पर्धते वक्षसि पदं लब्ध्वाऽपि श्रीः सपत्निवत् ।।
अतस्त्वत्पादभक्तेषु तव भक्तिः श्रियोऽधिका ।
भक्तिमेवाऽभिवाञ्छन्ति त्वद्भक्ताः सारवेदिनः ।।
अतस्त्वत्पादकमले भक्तिरेव सदाऽस्तु मे ।
संसारामयतप्तानां भेषजं भक्तिरेव ते ।।"

(अध्यात्मरा० बा०का० सर्ग २, श्लो० १६–२१)

*ननूत्तरत्राऽप्ययोध्याप्रवेश–जानकीपरित्यागचरितानां सत्त्वात् कथं रावणवधान्तमेव चरितं वर्णितमिति चेत्, सत्यम्। मुख्यावतारप्रयोजनकथनेनाऽस्य कथितप्रायत्वात् नोक्तमिति ज्ञेयम् ।।६।।*

---

अब यह प्रश्न विचारणीय है कि इसके पश्चात् भी अयोध्यानगरी में प्रवेश से लेकर सीतापरित्याग आदि रामावतार के कार्यकलाप अवशिष्ट हैं। फिर केवल रावणवध तक ही रामचरित का निरूपण क्यों है ? यह प्रश्न ठीक है, जिसका समाधान यह है कि रामावतार का मुख्य प्रयोजन रावण का वध था। अतः उसके निरूपण से प्रायः सभी निरूपण इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः उनका स्वतंत्र रूप से निरूपण नहीं किया गया है।

{श्रीसुग्रीव की भक्ति इसी प्रकार की है। वे श्रीराम से प्रार्थना करते हैं –

"न कांक्षे विजयं राम ! न च दारसुखादिकम् ।
भक्तिमेव सदा कांक्षे त्वयि बन्धविमोचिनीम् ।।
त्वन्मायाकृतसंसारस्त्वदंशोऽहं रघूत्तम ! ।
स्वपादभक्तिमादिश्य त्राहि मां भवसंकटात् ।।
(अध्यात्म० ४/१/८५–८६)

वे कामना करते हैं–
त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्ति –
स्त्वन्नामसंगीतकथासु वाणी ।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे
त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम् ।।
त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः
पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः ।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं
व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि ।।

एतां राम बलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत् ।
स चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत् ।। १० ।।

*एतस्य च स्वप्नोक्तस्य स्तोत्रस्य द्वे संज्ञे इति प्रतिपादयन् पार्वतीपतिः फलस्य पापघ्नीं सर्वकामदाभित्यनेनैवोक्तेः पाठे प्रवृत्तिप्रतिबन्ध – काऽल्पायुरादिदोषनिवृत्तयेऽर्थवादानाह[1] – एतामिति।*

---

अङ्गानि ते पादरजोविमिश्र -
तीर्थानि विभ्रत्वहिशत्रुकेतो ।
शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यै -
र्जुष्टं पदं राम ! नमत्वजस्रम् ।।

(अध्यात्म० ४/१/६१–६३)

इस प्रकार श्रीराम के ही अंशस्वरूप भक्त सुग्रीव के स्वामी श्रीराम के लिए "सुग्रीवेशः" यह विशेषण सार्थक है।। ६ ।।

***स्तोत्रार्थ :–*** *जो श्रीराम जी के बल (शक्ति) से सम्पन्न श्रीरामरक्षास्तोत्र का पाठ करता है, वह पुण्यात्मा दीर्घायु, सुखी, पुत्रवान्, विजयशील और विनयसम्पन्न होता है ।। १० ।।*

**भाष्यार्थ :–** (विश्वामित्र को) स्वप्न में उपदिष्ट इस स्तोत्र के दो नाम हैं– यह प्रतिपादन करते हुए भगवान् शंकर पापघ्नीं सर्वकामदाम् इन विशेषणों से रामरक्षा की फलश्रुति का निरूपण करने के कारण अल्पायुष्ट्व, दुःखित्व, अपुत्रित्व, पराजय, अविनय आदि स्तोत्र पाठ में प्रतिबन्धक बाधाओं का निराकरण करने के लिए अर्थवाद = स्तोत्र का वैशिष्ट्य निरूपित कर रहे हैं – "एताम्" इत्यादि।

---

१. अर्थवाद पु० अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य निन्दार्थस्य वा वादः। वद+ करणे घञ्। प्रशंसनीयगुणवाचके निन्दनीयदोषवाचके च शब्दविशेषे। भावे घञि तत्कथने – शब्दस्तोममहानिधिः।

*रक्षामिति रक्षाकरणस्तोत्रे कार्यत्वेनोपचारः। यथा शारदं दधि भुञ्जानो ज्वरं भुंक्ते इति प्रयोगे। "रामबलोपेता रक्षा रामरक्षा" इति मध्यमपदलोपी समासः। श्रीरामस्य यद् बलं जगद्रक्षणसामर्थ्यं तदस्य स्तोत्रस्यापि वर्त्तत इति "रामरक्षा"शब्देन व्यपदेष्टव्यमिति भावः।*

*दुःखिन आयुषैव किं प्रयोजनम् ? अत आह – सुखीति। सुखेनैवाऽऽयुः श्लाघ्यमिति भावः। अपुत्रस्याऽन्यसुखेनाऽपि न प्रयोजनम्, अत आह – पुत्रीति। पुन्नामनरकात् संरक्षणसमर्थेनैव सुखं श्लाघ्यमिति भावः। स्वस्वविद्याजनितविजयाभावे सर्वमिदंश्लाघ्यमित्याह – विजयीति । विजय उत्कर्षः। तत्राऽऽह – विनयीति। उक्तं च मयैव–*

---

यहाँ "रक्षा" शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, जिसका अर्थ है रक्षा करने वाला स्तोत्र। यह उसी प्रकार का प्रयोग है, जिस प्रकार शरद्–ऋतु मे दही के सेवन करने वाले को देखकर ("दही खाता है" यह न कह कर) "ज्वर को खाता है" इस प्रकार प्रयोग किया जाता है। "रामरक्षा" पद का समास–विग्रह है – **रामबलोपेता रक्षा रामरक्षा।** यह मध्यमपदलोपी समास है। इसका आशय यह है कि श्रीरामजी में विश्व की रक्षा का जो बल है, वही इस स्तोत्र में भी है, अतः इस स्तोत्र को **"रामरक्षास्तोत्र"** कहना चाहिए।

स चिरायुः सुखी पुत्री इत्यादि अर्थवाद प्रशंसापरक कथन है। जो पुण्यात्मा रामरक्षास्तोत्रपाठ करता है, वह "चिरायु" = लम्बी आयुवाला होता है। वह दीर्घायु होकर भी क्या करे, यदि दुःखी हो, उसका समाधान है– वह "सुखी" भी होना चाहिए। सुख के द्वारा ही लम्बी आयु प्रशंसनीय होती है। पुनश्च विचारणीय यह है कि अन्य सुख प्राप्त होने पर भी उनसे क्या प्रयोजन यदि वह पुत्ररहित हो। अतः वह "पुत्री" = पुत्रवान् होना चाहिए। "पुं" नामक नरक से अपने पिता को बचाने वाले पुत्र से जो सुख मिलता है, वह सुख प्रशंसास्पद होता है

*च्युतं समुद्धृत्य कराद् ग्रहीतुं*
*हेतुर्यशोधर्मयुगं नतिः स्यात् ।*
*गूढं निधानं समवाप्तुकामै –*
*रुद्दृष्टिभिः किं समवाप्यतेऽदा ।।" इति ।।१०।।*

पाताल–भूतल–व्योमचारिश्छद्मचारिणः ।
न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामभिः ।। ११ ।।

*पातालेत्यादि स्पष्टम् ।। ११ ।।*

---

अन्य नहीं, यह इसका आशय है। पुनश्च सर्वविध सुख मिलने पर भी अपनी–अपनी विद्या के बल पर जब तक वह विश्व–विजय नहीं करता, तब तक सभी सुख बेकार हैं। उसे विजयी = विजय–सम्पन्न अर्थात् अपनी–अपनी विद्या में उत्कर्षशाली होना चाहिए, यहां "विजय" का अर्थ उत्कर्ष है। विद्या का चरमोत्कर्ष भी विनय के बिना प्रशंसनीय नहीं होता। ("जयस्य विनयो मूलम्।" उत्कर्ष का मूल विनय होता है।) अतः उसे "विनयी" भी होना चाहिए। जैसा कि मैंने (मुद्गलाचार्य ने अन्यत्र) कहा है – च्युतं समुद्धृत्य इत्यादि। विनष्ट कीर्ति और विनष्ट धर्म दोनों को करतलामलकवत् अर्जित करने में केवल विनय "नति" = झुकना कारण होता है। गूढ़ निधान ("राम" नामके परम मर्म) को पाने की इच्छा रखने वाले बाह्य दृष्टिशाली व्यक्ति क्या बिना विनय के उस "ब्रह्मविद्यानिधि" को प्राप्त कर सकते हैं ? कदापि नहीं ।। १० ।।

***स्तोत्रार्थ :–** जो पाताल–लोक, भूलोक और आकाश में विचरण करते हैं, छद्मवेष से विचरण करने वाले वे भूत–प्रेत–पिशाच आदि उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, क्योंकि "राम" के विभिन्न नामों से उनकी रक्षा होती है ।। ११ ।।*

**भाष्यार्थ :–** "पाताल" इत्यादि का अर्थ स्पष्ट है ।। ११।।

रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन्।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति।। १२।।

*प्रसंगाल्लोकहिताय किञ्चिदन्यमुपदिशन् स्तोत्रमाहात्म्यमुपोद्घातयति – रामेतीति। अत्र इति शब्दाः प्रकारवचनाः। राममिति शेषः। राम – त्वप्रकारिकया वा रामभद्रत्वप्रकारिकया वा रामचन्द्रत्वप्रकारिकया वा स्मृत्या रामं विषयीकुर्वन् नरः पापैर्न लिप्यते। पापालेपे च भुक्तिर्वा मुक्तिर्वा वाञ्छिता भवतीत्यर्थः।*

---

***स्तोत्रार्थ :– राम अथवा रामभद्र अथवा रामचन्द्र इन नाममन्त्रों से श्रीराम जी का स्मरण (ध्यान = उपासना) करने वाला भक्त पापों से लिप्त नहीं होता और भोग–मोक्ष दोनों को प्राप्त करता है ।। १२ ।।***

**भाष्यार्थ :–** प्रसंगवश लोक-कल्याण के लिए कुछ अन्य नाममन्त्रों का उपदेश देते हुए स्तोत्रमहिमा का उपक्रम कर रहे हैं – रामेति इत्यादि। प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त तीन "इति" अव्यय–शब्द प्रकार (विशेषण) द्योतक हैं, (जो राम, रामभद्र और रामचन्द्र इन नाममन्त्रों से सम्बद्ध हैं।) "रामं" इस प्रकार यहाँ अध्याहार करना चाहिए। इसका आशय यह है कि श्रीराम जी एक ही हैं, राम, रामभद्र, और रामचन्द्र तीनों नाममन्त्र विशेषणकोटि में हैं और इन से एक ही परब्रह्म श्रीराम का साक्षात्कार होता है। अतः सभी नाममंत्रों से भगवान् की उपासना करने वाला भक्त पापरूपी कीचड़ से लिप्त नहीं होता। और पापों से लिप्त न होने पर वह अभीष्ट भोग अथवा मोक्ष अथवा दोनों को प्राप्त करता है।

*तथा चैषां नाम्नां महिमा श्रुतिसिद्धः*

*[1]तारं दीर्घानलं बिन्दुपूर्वकं दीर्घानलं पुनर्माय नमश्चन्द्राय नमो भद्राय नमः इत्योम्। तद्ब्रह्मात्मिकाः सच्चिदानन्दाख्या इति उपासितव्या" (रामोत्तरतापिनी द्वितीयकण्डिका) इति। एतैर्मन्त्रैरुपासितव्यं ध्यानं कर्तव्यमित्यर्थः। अत्र श्लोके स्मरणं ध्यानमेव विवक्षितम् ।।१२।।*

---

इन नाममन्त्रों की महिमा वेद में प्रसिद्ध है। तारं दीर्घानलं इत्यादि इस वेदमन्त्र में मन्त्रोद्धार और उसका रहस्य इस प्रकार उद्घाटित है – "तारं=प्रणव (ॐ), दीर्घानलं बिन्दुपूर्वकं (अनुस्वार सहित अग्निवाचक दीर्घ रकार, रां पुनः माय नमः चन्द्राय नमः, भद्राय नमः ओम् इस प्रकार पूर्ण मन्त्रोंद्धार होगा– (ॐ) रां रामाय नमः, (ॐ) रां रामचन्द्राय नमः, (ॐ) रां रामभद्राय नमः ॐ"।।

ये तीनों नाममन्त्र एक ही सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप राम की विभिन्न संज्ञाएँ हैं। इन नाममंत्रों से परब्रह्मस्वरूप का स्मरण = ध्यान (उपासना) करना चाहिए। इस श्लोक में "स्मरण" का अर्थ ध्यान विवक्षित है। ("स्मरन्" = ध्यायन् = उपासनां कुर्वन्) अधिकारानुसार ओंकार के साथ अथवा ओंकार को छोड़कर इन नाममन्त्रों से सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप श्रीराम जी की उपासना करनी चाहिए।।१२।।

इस प्रकार उपक्रम कर वर्तमान सन्दर्भ में इसकी उपादेयता निरूपित कर रहे हैं –

---

१. अस्य मन्त्रस्योपक्रमः इत्थम् –
"अथ हैनं भरद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्, "किं तारकम्, किं तारयति इति। स होवाच याज्ञवल्क्यः"। "तारकमि"ति पाठान्तरम्।

*एवमुपोद्धातं विधाय प्रकृतमाह –*

**जगज्जेत्रैकमन्त्रेण रामनाम्नाऽभिरक्षितम् ।**
**यः कण्ठे धारयेत्तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः ।।१३।।**

*"जगदि" ति। पूर्वोक्तेषु त्रिषु नामसु मध्ये जगद्विजयसाधनमन्त्रेण "पातु रामोऽखिलं वपुरि"त्यत्र पठितेन "राम" नाम्नाऽभिरक्षितं = कृतोज्जीवनम् एतत् स्तोत्रं यः कण्ठे धारयेत् इति = पठेत् अथवा सुवर्णनिर्मितालंकारविशेषे वा निक्षिप्य कण्ठे धारयेत् तस्य सर्वसिद्धयः करस्था भवन्तीत्यर्थः। विरोधाभासश्चाऽलंकारः, अन्यः कर्ताऽन्यः फलस्य*

---

***स्तोत्रार्थ – विश्व विजय प्राप्त करने का एकमात्र मन्त्र है – राम नाम। उससे अभिरक्षित यह रामरक्षा स्तोत्र है, उसे जो कण्ठ में धारण करता है, उसके हाथों में सभी प्रकार की सिद्धियाँ अवस्थित होती हैं।।१३।।***

**भाष्यार्थ –** "जगज्जेत्रैकमन्त्रेण" इत्यादि। (पूर्वोक्त तीन नाममन्त्रों के बीच में) विश्व विजय प्राप्ति का एकमात्र साधन नाममंत्र है – "राम" नाम। जो "पातु रामोऽखिलं वपुः" इस श्लोकांश में पठित है। सम्पूर्ण रामरक्षा स्तोत्र इस नाममन्त्र से सर्वतः रक्षित है, अर्थात् इस नाममन्त्र से इसमें नवजीवन का सञ्चार हुआ है। अतः जो इस स्तोत्र को कण्ठ में धारण करता है = कण्ठस्थ पाठ करता है, अथवा भूर्ज–पत्र आदि पर लिखकर सुवर्ण निर्मित अलंकार (यंत्र) में रखकर कण्ठ में धारण करता है, उसे सभी सिद्धियाँ हस्तगत होती हैं यह इस श्लोक का आशय है। इस पद्य में विरोधाभास अलंकार है। **"आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते"** – जहाँ आपाततः विरोध प्रतीत होता है, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। प्रस्तुत स्थल में धारणकर्ता

*भोक्तेति। विरोधपरिहारस्तु स्पष्टः।।१३।।*

*द्वितीयां स्तोत्रस्य संज्ञां सनिमित्तां वदन् प्राशस्यान्तरमाह –*

**वज्रपञ्जरनामेदं यो रामकवचं स्मरेत्।**
**अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमंगलम्।।१४।।**

*"वज्रपञ्जरे"ति। रेऽमोऽस्तीति येषां ते (रामाः) इति व्यधिकरण बहुव्रीहिसमासाङ्गीकारेण रामाः = श्रीरामभक्ता इति भावः।*

*रकारो वह्निवचनः प्रकाशे पर्यवस्यति"*

---

कण्ठ है, तो उसका भोक्ता कर। दोनों भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं। इसका विरोध परिहार स्पष्ट है। ("कण्ठ" और "कर" एक ही भक्त के भिन्न–भिन्न अवयव हैं। अवयववान् भक्त ही उसका धारणकर्ता भी है, और उसका फलभोक्ता भी। इस प्रकार विरोध परिहार तो स्पष्ट है)।।१३।।

इस श्लोक में इस स्तोत्र के द्वितीय नाम का निर्वचन हेतुपूर्वक करते हुए उसकी प्रशस्ति भिन्न प्रकार से कर रहे हैं –

***स्तोत्रार्थ – जो भक्त "वज्रपञ्जर" नामक "रामकवचस्वरूप" स्तोत्र का पाठ करता है, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन कोई नहीं करता। उसकी सर्वत्र जीत होती है, उसका सर्वत्र मंगल होता है।।१४।।***

**भाष्यार्थ :–** "वज्रपञ्जर" इत्यादि। (यह "रामकवच" है – "रामाणां कवचं रामकवचम्"।) "रे = अखण्डप्रकाशस्वरूप राम में, अमः अस्ति येषां = जिनकी भक्ति होती है, ते रामाः – वे रामभक्त हैं।" इस व्यधिकरण बहुव्रीहि–समास का अवलम्बन करने से "राम" शब्द का अर्थ रामभक्त है। "रकारो वह्निवचनः प्रकाशे पर्यवस्यति" इस प्रमाणवचनानुसार "र"कार अग्निबीज है, जिसका पर्यवसान अखण्ड प्रकाशमय ब्रह्मस्वरूप श्रीराम में होता है। धातुपाठ में अम–धातु इस

*इति स्मृतेः तेजोविशेषवाचकस्य रेफस्याऽनवच्छिन्नप्रकाशात्मक – श्रीरघुनाथलक्षकत्वमङ्गीकृत्य "अम गतौ भजने शब्दे" इति धातुना च इदं फलतीति ज्ञेयम्।*

*"रामाणां कवचं = संरक्षणासाधारणं कारणमिति यावत्।*

*लोके च "राम" शब्दस्य शुके प्रसिद्धेस्तद्रक्षणासाधारणकारणस्य च पञ्जररूपत्वादत्र "वज्रपञ्जर" संज्ञेत्याह – "वज्रे" ति।*

*"वज्रं सुधाविकारे स्याद् घोराऽयःशक्रहेतिषु" इत्यभिधानात् "लोहपञ्जरो" "वज्रपञ्जर" शब्दार्थः; यथा लोहपञ्जरः शुकानां संरक्षणं करोति तथेदं श्रीरामभक्तानामिति भावः।*

---

प्रकार पठित है – "अम गतौ भजने शब्दे। अम–धातु के अनेक अर्थ हैं – गति, भक्ति और शब्द। (इसमें अम का अर्थ भक्ति करने पर पूर्वोक्त अर्थ निष्पन्न होता है।) र (राम) + अम (भक्ति) = राम = राम से भक्ति करने वाले। ("रामाणां कवचं रामकवचम्।" "रामरक्षास्तोत्र असाधारण रूप से रक्षा का कारण होने से श्रीरामभक्तों का रक्षाकवच = रामकवच है।

लोक में राम शब्द का प्रसिद्ध अर्थ शुक है। "रामरक्षास्तोत्र रामभक्तों की रक्षा का असाधारण कारण होने से इसे "वज्रपञ्जर" स्तोत्र भी कहते हैं। **वज्रं सुधाविकारे स्याद् घोराऽयःशक्रहेतिषु** – अभिधानकोष के इस वचनानुसार "वज्र" शब्द के अनेक अर्थ हैं – (१) सुधा से बनी वस्तु, (२) धैर्यशाली व्यक्ति, (३) लोहा, (४) देवराज इन्द्र का आयुध। इन अर्थों में यहां पर "वज्र" शब्द का अर्थ लोहा करने पर "वज्रपञ्जर" शब्द का अर्थ लोहे का पिंजरा होगा। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार लोहे का पिंजरा शुकों की रक्षा करता है, उसी प्रकार रामरक्षा स्तोत्र श्रीरामभक्तों की रक्षा का असाधारण कारण है। (अतः इस "रामकवच" का द्वितीय नाम "वज्रपञ्जर सार्थक है।)

*स्मरेदिति। पठतां फलसाधनमिति किं वक्तव्यम्, स्मरणमात्रेणापि फलदमिति प्राशस्त्यातिशयः। ("जयमङ्गलमि"ति) "जयामङ्गलमि" ति वा जयसहित मंगलमि"ति मध्यमपदलोपी वा समासो द्रष्टव्य इति।।१४।।*

**पारमार्थिक व्याख्या**

*एवं प्रातीतिकमर्थं व्याख्याय पारमार्थिकमर्थं व्याख्यास्यामः। तत्रोपद्घातत्वेनेदं तावदन्तरश्चिन्तनीयमित्याह कौशिको "ध्यात्वे" त्यादिना। "ध्यै चिन्तयामि"ति चिन्तापरपर्यायविचारवाचकत्वाद् धातोर्विचार्य पठेदि"त्यथा लभ्यते। विचारस्य च [1] निश्चयाऽविनाभावान्निश्चित्येत्यर्थो विवक्षित इति ज्ञेयम्।*

---

स्मरेत् – इस स्तोत्र की विशिष्ट प्रशस्ति यह है कि यह स्तोत्र न केवल पाठकर्ताओं के लिए ही फलदायक है, प्रत्युत स्मरणमात्र (केवल उपांशु जप से ही) फलप्रद होता है। जयमंगलम् – इसका समास दो प्रकार से है – (१) जयात् मङ्गलं जय मङ्गलम् (पंचमी तत्पु०) (२) जयसहितं मङ्गलं जय जयमङ्गलम् (मध्यम पदलोपी समास) (फलतः इसका अर्थ होगा – इस स्तोत्र का पाठकर्ता अथवा जपकर्ता विजय के कारण मंगल प्राप्त करता है अथवा विजय के साथ मंगल प्राप्त करता है।) ।।१४।।

**आध्यात्मिक व्याख्या**

इस प्रकार आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थ की व्याख्या कर अब हम (पुनः "ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं" से लेकर प्रारम्भ से) इसके परमार्थ सम्बन्धी अर्थ की व्याख्या करेंगे। महर्षि कौशिक विश्वामित्र यह

---

१. विचारस्य च निश्चयाविनाभावात् = निश्चयेन अविनाभावः, तस्मात्। अविनाभावः– विना व्यापकमृते न भावः स्थितिः, व्यापकस्थित्यनु – रोधिसत्तारूपाव्याप्तिः। – शब्दस्तोममहानिधिः।

*भगवद्वाल्मीकिकृतरामायणाख्येतिहासानुवादी किलाऽत्र भगवान् भवानीवल्लभः । तदत्र मूलभूतं रामायणमेवोदाहृत्य चिन्तनीयम् । "किमिदं यथाश्रुते एवाऽर्थे पर्यवस्यति, किं वा श्रुतिसामान्यादर्थान्तरे पर्यवस्यति? इति। तत्र पूर्वकोट्युल्लेखो "नीलोत्पलमि"त्यादिना "अवतीर्णमि" त्यन्तेन सहेतुको दर्शितः। "अजं विभुम्" इत्युत्तरकोट्युल्लेखः सहेतुको दर्शित इति ज्ञेयम्।*

---

प्रतिपादित कर रहे हैं कि प्रथम रामरक्षास्तोत्र के आन्तरिक अर्थ की चिन्ता करनी चाहिए। अतएव वे इस प्रकार उपक्रम कर रहे हैं – "ध्यात्वा (रामरक्षां) पठेत्। "ध्यात्वा – "ध्यै चिन्तायाम्" ।

"ध्यै" धातु का चिन्ता अर्थ में प्रयोग होता है – ("ध्यै + क्त्वा = ध्यात्वा)। "चिन्ता" विचार का ही दूसरा पर्याय है। अतः 'ध्यात्वा विचार्य पठेत्' = "विचार करके स्तोत्र पाठ करना चाहिए" – यह इसका अर्थ है। विचार का "निश्चय" के साथ "अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध है। अतः इसका अर्थ होगा "ध्यात्वा = (१) निश्चित्य पठेत्" (२) अर्थनिर्धारण करके ही स्तोत्रपाठ करना चाहिए।

पार्वतीपति भगवान् शंकर भगवान् वाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण नामक इतिहास के मात्र अनुवादक, यथावत् निवेदनकर्ता हैं। अतः मूलभूत रामायण को ही उदाहरण के रूप में रखकर रामरक्षा का अर्थ निर्धारण करना चाहिए। अब विचारणीय यह है कि – मीमांसादर्शन के अनुसार अर्थवाद का अवलम्बन कर वाल्मीकि – रामायण का श्रुतिसम्मत सामान्य अर्थनिर्धारण यंथावत् करना चाहिए अथवा उससे भिन्न अर्थ की कल्पना करनी चाहिए।

(परब्रह्म परमात्मा के दो स्वरूप हैं – (१) सगुण और (२) निर्गुण। निष्कल पूर्ण ब्रह्म का मनुष्यजन्म वास्तविक है अथवा प्रातिभासिक ? महर्षि वाल्मीकि ने मनुष्य योनि में परमात्मा के जन्म को वर्णित किया है। उसे वास्तविक माना जाय अथवा प्रातिभासिक ? पूर्वपक्ष उसे

*लीला हि नटादिदृष्टान्तावष्टम्भेनाऽन्याकारप्रतिभासं साधयतीति पूर्वकोटौ हेतुतां प्रतिपद्यते। तथा च प्रयोगः – "विमतः रामत्वेनोत्पत्तियोग्यः, लीलावन्नरत्वात्, नटवत्।" न च स्वरूपासिद्धता, नटत्वेनाऽऽत्मत्वस्य विवक्षितत्वात्। न च नटव्यतिरिक्तनरेषु व्यभिचारः, योग्यतया निरस्तत्वात्। न च साध्यविकलो दृष्टान्तः, तदनुकृत्या तदाकारोपपत्तेः। उत्तरपक्षे प्रयोगस्तु विमतो नोत्पत्तियोग्यः, विभुत्वात् आकाशादिवत्। दोषचिन्तां तु उत्तरत्र करिष्यामः। एवं चाऽनयोर्यत् तर्कानुगृहीतं, तेनाऽर्थं निश्चित्य रामरक्षा पठनीयेति वाक्यार्थः।*

---

वास्तविक मानता है, सिद्धान्तपक्ष कल्पित। सिद्धान्तपक्ष में उसकी विशिष्ट दार्शनिक व्याख्या है, जो वास्तविक, शाश्वत है। मनुष्ययोनि का चित्रण प्रातिभासिक है। यह कवि का कल्पना–विलास है।)

इस विषय में "नीलोत्पलदलश्यामम्" से लेकर "अवतीर्णम्" तक पूर्वकोटि में उल्लेख सप्रमाण तर्कसंगत पद्धति से किया गया है। उसी प्रकार यहाँ "अजं विभुम्" विशेषणों से उत्तरकोटि में उल्लेख सहेतुक है, यह ध्यातव्य है।

(श्रीराम परब्रह्मस्वरूप हैं। रामलीला सगुण और निर्गुण द्विविध स्वरूपों में नट द्वारा की गयी परब्रह्म के सगुण स्वरूप की अनुकृति है।) यतः लीला नट आदि दृष्टान्त का अवलम्बन कर, जो है उससे भिन्न आकार का आभास कराती है। इसका प्रयोग इस प्रकार है – "विमतः रामत्वेनोत्पत्तियोग्यः लीलावन्नरत्वात् नटवत्।" इसका आशय यह है – परब्रह्म श्रीराम का सगुण ध्यान हमें अभीष्ट है, दाशरथी राम के रूप में उसका अवतार हो सकता है क्योंकि मनुष्य योनि की लीलाशालिता उसमें विद्यमान है। जैसे नट रामादि की लीला करता है, उसी प्रकार सगुण ब्रह्मस्वरूप राम लीला करते हैं।

(इस प्रयोग को इस प्रकार समझा जा सकता है – पक्ष – विमतः,

साध्य – रामत्वेनोत्पत्तियोग्यः, हेतु – लीलावन्नरत्वात्, दृष्टान्त – नटवत् ।)

यहाँ (पाँच हेत्वाभासों के अन्तर्गत) स्वरूपासिद्ध असिद्ध हेतु भी नहीं है, क्योंकि "लीलावन्नरत्वात्" इस हेतु में "नरत्व" का अर्थ "आत्मत्व" है। (जीवात्मा परमात्मा का ही अंश और उससे अभिन्न है।) नट से भिन्न नरों में वह हेतु व्यभिचरित नहीं है। (क्योंकि राम के स्वरूपधारी नट में) सारूप्य भक्ति का उत्कर्ष होने के कारण रामरूप होने की योग्यता आती है, जो अन्य नरों में नहीं होती।

{ भ्रमद् – भमरचिन्तायां कीटोऽपि भ्रमरायते – वीरागम }

मुण्डकोपनिषद् कहता है – स यो ह वै परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। इस प्रकार "कीटभ्रमरन्याय" से नट रामरूप होने के कारण "नटवत्" यह दृष्टान्त साध्य से विकल भी नहीं है। क्योंकि राम का अनुकरण करते–करते नट रामरूप हो जाता है। उत्तरकोटि (निर्गुण ध्यान) में यह प्रयोग होगा – विमतो नोत्पत्तियोग्यः, विभुत्वात् आकाशादिवत्।" (इसका आशय इस प्रकार है – "परब्रह्म निर्गुण स्वरूप राम का जन्म सम्भव नहीं है। यतः वे विभु, सर्वव्यापक हैं। जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक (विभु) है। इस वांक्य के चार अंश हैं – पक्ष – विमतः, साध्य – नोत्पत्तियोग्यः, (हेतु – विभुत्वात्। दृष्टान्त – आकाशादिवत्।) हम आगे चलकर इसका दोष निर्धारण करेंगे। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा के सगुण और निर्गुण ध्यान सम्बन्धी जो न्यायशास्त्रीय अर्थ है उसका निर्धारण कर श्रीरामरक्षास्तोत्र पाठ करना चाहिए यही इसका तात्पर्य है।

(प्रकृति और प्रत्यय की दृष्टि से ध्यै + क्त्वा = ध्यात्वा") रूप निष्पन्न होता है। उसमें प्रकृत्यर्थ भिन्न है और प्रत्ययार्थ भिन्न। प्रथम प्रकृत्यर्थ (ध्यै = चिन्ता = विचार = निश्चय) का निर्धारण किया गया। प्रत्ययार्थ के सम्बन्ध में मतभेद हैं – पूर्वपक्ष में "क्त्वा" प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य है और सिद्धान्तपक्ष में नियतपूर्ववर्तिता। उनकी

*पूर्वपक्षः — ननु आनन्तर्यस्य क्त्वार्थत्वात् यदा यदा रामरक्षापाठस्तदा विचारानन्तर्यमित्यशक्यमेतत्। न हि शतशो विचाराः कर्तुं शक्यन्ते। कृता वा केवलमदृष्टार्थतां प्रतिपद्येरन्निति चेत्, को वा ब्रूते क्त्वा आनन्तर्यार्थताम्, नियतपूर्वताया एव क्त्वार्थत्वात्।*

*ननु समानकर्तृकता तावन्न "क्त्वा"र्थः, यदोर्वंशं नरं श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते इत्यादौ व्यभिचारात्। न च तस्य वाच्यत्वकल्पनापि, समभिव्याहारलभ्यत्वात्।*[1]

---

उपस्थापना मुद्गलाचार्य इस प्रकार कर रहे हैं —

**पूर्वपक्ष** — "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ "आनन्तर्य" होता है। यह अर्थ करने के कारण ("ध्यात्वा पठेत्" का अर्थ होगा—) जब जब रामरक्षा का पाठ कर्त्तव्य होगा, तब तब ध्यान के अनन्तर पाठ करना चाहिए। यह अर्थ असम्भव है। क्योंकि सैकड़ों विचार एक साथ नहीं किए जा सकते। (परब्रह्म राम के दो ध्यान हैं — सगुण और निर्गुण, जो एक साथ नहीं किए जा सकते। अथवा यंथाकथञ्चित् करने पर भी उसके दृष्ट (प्रत्यक्षगोचर) अर्थ की संगति नहीं होगी, केवल अदृष्ट (परोक्ष) परमार्थ की संगति लगेगी। इसका उत्तर यह है कि क्त्वा प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य कौन कर रहा है ? उसका अर्थ नियतपूर्ववर्तिता = उत्तरवर्ती क्रिया के पूर्व निश्चित रूप से अवस्थिति है।

कुछ लोग "क्त्वा" प्रत्यय का अर्थ समानकर्तृकता करते हैं, जिसका आशय होगा "क्त्वा"प्रत्ययान्त क्रिया और उत्तरवर्ती सिद्धान्त क्रिया दोनों का एक समानकर्ता होना, जो सम्भव नहीं है। क्योंकि —

---

१. समभिव्याहारः साहित्यम्।

*न हि पश्यन् गच्छति, आहर्त्तुं याति इति शतृ–तुमुनावपि समानकर्त्तृकतायां विहितौ। नापि पूर्वकालतामात्रम्, मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादौ व्यभिचारात्। एककर्तृकत्वे च समभिव्याहारलब्धे पौर्वापर्यस्याऽर्थलभ्यत्वात्। न च पश्यन् गच्छतीत्यादौ व्यभिचारान्नेदं साम्प्रतम्, अप्रासंगिकक्रिययोरेककर्तृकयोः पौर्वापर्यनियमात्।*

---

यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते इत्यादि दृष्टान्त वाक्यों में यह नियम घटित नहीं होता। इस वाक्य का अर्थ है– "जब भक्त यदुवंश की कीर्ति सुनता है, तब वह भगवान् के द्वारा सभी पापों से मुक्त किया जाता है।" इस वाक्य में दो क्रियापद हैं "क्त्वा"प्रत्ययान्त "श्रुत्वा" और तिङन्त "प्रमुच्यते" क्रिया। इसमें "श्रुत्वा" का कर्ता भक्त है और "प्रमुच्यते" क्रिया का कर्ता भगवान्। अतः व्यभिचार दोष होगा। साथ ही "क्त्वा"प्रत्यय का वाच्यार्थ समानकर्तृकता है, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। क्योंकि यह अर्थ दो क्रियाओं के समभिव्याहार (एक साथ अवस्थिति) से ही प्राप्त हो सकता है। स्वतन्त्र रूप से नहीं।

न केवल "क्त्वा"प्रत्यय का अपितु दूसरे प्रत्ययों का विधान भी समानकर्तृकता (दो क्रियाओं में एक समान कारक की अवस्थिति) को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ – पश्यन् गच्छति दृश (पश्य) + शतृ = "पश्यन्" = देखते हुए, गच्छति = जाता है। इसका प्रयोग विशेषण के रूप में कर्ता कारक से साक्षात् सम्बद्ध है, उत्तरवर्ती गमन क्रिया से नहीं। अतः "शतृ"प्रत्यय समानकर्तृकता में प्रयुक्त नहीं है। दूसरा उदाहरण है– आहर्तुं याति (संग्रह के लिए निकलता है– आ + हृ (हर्) + तुमुन् = आहर्तुम्) इसमें "तुमुन्" प्रत्यय फलद्योतक है, समानकर्तृकता – द्योतक नहीं। "क्त्वा"प्रत्यय का प्रयोग केवल पूर्वकाल में ही नहीं होता। "ल्यप्"प्रत्यय का प्रयोग "क्त्वा" के स्थान पर उपसर्ग क्रिया के साथ होता है। "मुखं व्यादाय स्वपिति" (मुँह खोलकर सोता है।) इस उदाहरण में "वि + आ +दा + ल्यप्

*नापि प्रतिनियतपूर्वकालीनत्वम्।[1] यस्मिन् वाक्ये ये प्रधानक्रिये, तयोर्योग्यतापरामर्शेन प्रतिनियतपूर्वकालत्वस्य "अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति, अनुलिम्पति, स्नाति" इत्यादौ पूर्वत्वनियमस्य प्रमाणान्तरत एवाऽवसीयमानत्वात्।*

*अथवा "भुक्त्वा व्रजती"त्यत्राऽस्तु उभयथा प्रतीतिः, तथापि यदि भोजनमुत्तरं तदर्थे च व्रजनं स्यात्, ततस्तुमुना क्त्वाप्रत्ययो बोध्येतेति*

---

= व्यादाय" में "ल्यप्" प्रत्यय पूर्वकाल का द्योतक नहीं है, अतः यह नियम व्यभिचरित होगा। इसी प्रकार "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ "समभिव्याहार" (उत्तरवर्ती क्रिया के साथ सत्ता) द्योतित होता है, जिनमें पूर्वापरक्रम होता है, इसलिए भी वह केवल पूर्वकाल का द्योतक नहीं, अपितु उत्तरकाल का भी द्योतक है।

("क्त्वा", "ल्यप्" के समान) "शतृ", "तुमुन्", आदि का प्रयोग संमानकर्तृकता में एक समान कर्ताकारक की अवस्थिति में होता है और वह अर्थ "समभिव्याहार" (दो क्रियाओं की एक साथ सत्ता) से तथा उनके पूर्वापरक्रम से ज्ञात होता है, यह आपका नियम दोषपूर्ण है। उदाहरणार्थ "पश्यन् गच्छति"। यहाँ "पश्यन्" का प्रयोग केवल कर्ताकारक से सम्बद्ध है, परवर्ती "गच्छति" से नहीं। यहाँ पूर्वापरक्रम भी प्रभावी नहीं है। अतः आपका यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता– इस प्रकार का कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि पूर्वापरक्रम का नियम वहीं प्रभावी होता है, जहाँ एक कर्ता होने पर भी पूर्ववर्ती और परवर्ती क्रिया परस्पर सम्बद्ध नहीं होती। यथा – "पश्यन् गच्छति" यहाँ पर दोनों क्रियाओं का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। शतृ–प्रत्ययान्त दर्शन क्रिया का कर्ता के साथ सम्बन्ध है, परवर्ती गमन क्रिया के साथ नहीं। अतः उक्त नियम दोषपूर्ण नहीं है।

---

१. प्रतिनियतपूर्वकालीनत्वं कारणत्वं प्रयोजकत्वं वा।

*भोक्तुं व्रजतीति प्रयोगः स्यात्। अथ व्रजनार्थं भोजनम्, तर्हि भुंक्ते व्रजितुम् इति प्रयुज्येतेति परिशेषादेव नियतपूर्वकालतासिद्धिः।*

*किञ्च प्राधान्यकृतमपि नियतपौर्वापर्यं ब्रूमः। यदि तत्र वाक्ये भोजनमेव प्राधान्येन स्यात्, भोजनविशेष्यक एवाऽनुभवः स्यात्, न तु व्रजनविशेष्यकः। अपि च, समानकर्तृक्रियावाचिनोर्धात्वोर्यदि उत्तरक्रियाप्रतियोगिक – क्रियान्तरगतपूर्वकालता क्त्वार्थः स्यात्, तत् उत्तरक्रियायाः प्रतियोगिमात्रत्वेनोपादानात् व्रजनात् पूर्वकालीना भोजनक्रियेति प्रतीतिः*

---

· साथ ही इस प्रकार का भी निश्चित नियम नहीं है कि दो क्रियाओं में पूर्ववर्ती क्रिया का पहिले सम्पादन हो। जिस वाक्य में जो दो प्रधान क्रियापद होते हैं, उन दोनों में यह परामर्श करना पड़ता है कि इनमें प्रथम किसका विधान है ? उदाहरणार्थ "अग्निहोत्रं जुहोति यावगूं पचति" इस वाक्य में यावगूपाक (खीर का पकना) के बाद ही अग्निहोत्रहोम का विधान है। उसी प्रकार "अनुलिम्पति, स्नाति" इस वाक्य में स्नान के पश्चात् ही चन्दनकुंकुमादि लेपन का विधान है। इनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती क्रिया के पूर्व रहने वाली क्रिया के पूर्वसम्पादन का नियम प्रभावी नहीं होता।

अथवा यदि हम मान लें कि "भुक्त्वा व्रजति" यहाँ पर दोनों प्रकार की प्रतीति हो सकती है। (तो भी प्रथम यह विचार करना होगा कि दोनों क्रियाओं में कौन उद्देश्य है और कौन विधेय ? (अगर भोजनक्रिया परवर्ती हो, और उसके लिए व्रजन (गमन) क्रिया हो। "तुमुन्" प्रत्यय से "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ गम्य होगा – इस प्रकार यदि आप मानें, तो "भोक्तुं व्रजति" इस प्रकार प्रयोग करना समुचित होगा। यदि आप गमन (व्रजन) को उद्देश्य मानकर भोजन क्रिया का विधान करते हैं, तो "भुंक्ते व्रजितुम्" इस प्रकार का प्रयोग होगा। इस प्रकार जो क्रिया अवशिष्ट होगी, उसी का सम्पादन पूर्वकाल में होगा। इस प्रकार नियत पूर्ववर्तिता का सिद्धान्त खण्डित होता है।

*स्यात्। न च तथा प्रतीतिरस्ति। भोजनपूर्वकालतां निरूप्य व्रजनगतानन्तरकालत्वस्य प्रतीयमानत्वात्। तस्मादानन्तर्यमेव क्त्वार्थः। पूर्वकालता तु तन्निरूपकत्वेन जघन्या प्रतीयते इति सुन्दरम्।*

*(सिद्धान्तपक्षः) – अत्रोच्यते, न तावद् भिन्नकर्तृकत्वे "क्त्वा" प्रत्ययः* **यदोर्वंशं नरः श्रुत्वेत्यादौ** *"स्थित" [1]इत्यध्याहारेण व्याख्यानात्। यत् तु समानकर्तृकत्वं न क्त्वार्थः, [2]समभिव्याहारगम्यत्वात् तत्रेष्टापत्तिरित्युत्तरम्।*

---

गुणप्रधानभाव की दृष्टि से प्रधान क्रिया को ध्यान में रखकर दोनों क्रियाओं का पूर्वापरक्रम निर्धारित किया जाता है – यह नियम मानें तो इस नियम के विषय में हमारा यह कथन है कि **भुक्त्वा व्रजति** इस वाक्य में यदि भोजन प्रधान हो, तो उसका अनुभव विशेषकोटि में होगा, गमन (व्रजन) का नहीं। (क्योंकि वहाँ भोजन उद्देश्य है, तदर्थ गमन होता है, अतः गमन क्रिया विधेय है।) जहाँ दो क्रियाओं का समानकर्ता होता है, वहाँ पूर्ववर्ती अनुयोगी क्रिया में प्रयुक्त "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ यदि परवर्ती क्रिया के पूर्वकाल में सम्पादन हो, तो वहाँ परवर्ती क्रिया का प्रयोग मात्र प्रतियोगी क्रिया के रूप में होना चाहिए। उदाहरणार्थ **भुक्त्वा व्रजति** में केवल यह अर्थ– प्रतीति होनी चाहिए कि उसने जाने के पहिले भोजन किया। परन्तु वहाँ वैसी प्रतीति नहीं होती। (अपितु यह प्रतीति होती है कि उसने भोजन के अनन्तर गमन किया। वहाँ "क्त्वा" प्रत्यय से प्रथम भोजन और अनन्तर गमन क्रिया के सम्पादन का ज्ञान होता है। अतः "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य है और उस आनन्तर्य के द्वारा भोजन की पूर्ववर्तिता का ज्ञान होता है, अतः वह पक्ष

---

१. अध्याहारः (अधि + आ + हृ (हर्) +घञ्) = आकांक्षा विषयपदानुसन्धानम्।
२. समभिव्याहारः (सम + अभि + वि + आ + हृ (हर्) घञ्) = साहित्यम् (शब्दस्तोममहानिधिः)

*यत्तु पूर्वकाले शक्तावपि व्यभिचार उक्तः, स न। मुखं व्यादायेत्यादौ हि औपहासिकप्रयोगात्। यो हि कश्चिदवशशरीरो भवति, तस्यैव जाग्रद्दशायां स्वापदशायां वा प्रस्तुताऽननुरूपाश्चेष्टा भवन्ति। जाग्रद्दशायां यथा लालादिनिर्गमः स्वापदशायां सशब्दश्वासादिस्तदत्रोपहस्यते। निद्रितो मुखं व्यादाय स्वपिति, न स्वापोत्तरं मुखव्यादानं किन्तु प्रागेवायं मुखं व्यादत्तवानिति। अथवा व्यादानोत्तरकालीनैव स्वापक्रियाऽत्र विवक्षितेति न दोषः।*

---

निकृष्ट (जघन्य) है, यही पक्ष समीचीन है।

इस सम्बन्ध में हमारा कथन यह है कि "क्त्वा"प्रत्यय का प्रयोग (दो विभिन्न क्रियाओं के) दो विभिन्न कर्ता होने पर नहीं किया जाता। **यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा** इत्यादि पद्य में व्यभिचार दोष इसलिए नहीं है कि "स्थितः" पद का अध्याहार करके व्याख्यान करने से उसकी संगति लग जाती है। "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ (दो क्रियापदों का समानकर्ता नहीं होता। वह अर्थ समभिव्याहार दो क्रियापदों की एक साथ अवस्थिति) से ज्ञात होता है; यह आपका जो कथन है, उसका उत्तर यही है कि यह हमारे लिए इष्टापत्ति है। इसे हम भी स्वीकार करते हैं।

"क्त्वा" प्रत्यय की शक्ति पूर्वकाल को संकेतित करती है। तथापि आनन्तर्यवादी **मुखं व्यादाय स्वपिति** उदाहरण देकर उसमें दोष निकालते हैं, यह समुचित नहीं है। **मुखं व्यादाय स्वपिति** यह उपहास मात्र है। जो अपने शरीर पर नियंत्रण नहीं रख सकता, वही जागते अथवा सोते समय असहज चेष्टाएँ करता है। जिस प्रकार जागते समय उसके मुँह से लार टपकती है, उसी प्रकार सोते समय वह जोर–जोर से खर्राटे भरता है। उसी का उपहास किया जाता है कि "अरे, यह मुँह बाए सो रहा है।" वह नींद में मुँह खोलकर नहीं सोता और न नींद लगने के बाद उसका मुँह खुलता है, अपितु सोने के पहिले ही उसने मुख खोल दिया है– यह उसका आशय है; अथवा

*यत्तु नियतपूर्वकालत्वमपि प्रमाविषयं तत् प्रतिपन्नमिति असत्। "अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति" "अनुलिम्पति, स्नाति" इत्यत्रत्यन्याया–प्रवृत्तेः। तथाहि- तत्राऽर्थक्रमात् पाठक्रमबाधेन तथाऽर्थप्रतीतिर्युक्ता।*

*"भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति" इत्यत्र श्रुतिं परिहाय प्रतिनियतपूर्वकाला–प्रतीत्यापत्तेः। न च पाठक्रमादेव तत् सिद्धिः, "व्रजति भुक्त्वे"त्यादौ वैपरीत्यापत्तेः।*

---

मुँह खोलने के बाद वह सोता है यह अर्थ विवक्षित होने पर भी कोई व्यभिचार दोष नहीं होता। इससे मुखव्यादान की पूर्ववर्तिता यही "ल्यप्" प्रत्यय का अर्थ निकलता है, आनन्तर्य नहीं।

आपका यह मत कि दो क्रियाओं में पूर्वक्रिया पूर्वकाल को द्योतित करती है, यह "प्रमा" का विषय है। अर्थात् यह विमर्श वास्तविक अर्थ–निर्धारण करके ही किया जाता है। अपना मत सिद्ध करने में आप दो उदाहरण देते हैं – अग्निहोत्रं जुहोति – यवागूं पचति, अनुलिम्पति–स्नाति। किन्तु ये दोनों उदाहरण वहाँ प्रभावी नहीं हैं। वहाँ अर्थक्रम भिन्न है और पाठक्रम भिन्न। साथ ही वहाँ अर्थक्रम के अनुसार पाठक्रम बाधित हो रहा है, अतः वहाँ उसी प्रकार का अर्थ-निर्धारण समुचित है। साथ ही दो क्रियाओं में प्रत्येक पूर्ववर्ती क्रिया पूर्वकाल की व्यञ्जक होती है यह निश्चित नियम सर्वत्र प्रभावी नहीं होता। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति इस दृष्टान्त में जहाँ भुक्त्वा का द्विवार प्रयोग है, वहाँ निश्चित रूप से पूर्वकाल का अर्थबोध नहीं होता। अग्निहोत्रं जुहोति – यवागूं पचति और अनुलिम्पति–स्नाति इन

---

१. प्रमा – (प्र + मा + अङ्०) = यथार्थज्ञाने, भ्रमभिन्ने ज्ञाने च। (श० स्तो० म०)

*यत्तूक्तम्, एकस्याऽन्यार्थत्वे तुमुना भवितव्यमिति तदनुकूलमेव, न तत्र विवादः, यदा तु अप्रधानयोरेवमुक्तिस्तदा प्रतिनियतभावः श्रुतिं विना दुर्भिन्न एव।*

*यदुक्तमानन्तर्ये क्त्वार्थे जघन्यप्रतीतिकं पूर्वकालत्वमर्थलभ्यमिति, तत्राऽऽनन्तर्यार्थित्त्वं यदाऽस्य स्यात्, स्यादपि। तथाहि – प्रकृतिप्रत्ययौ स्वार्थं सह ब्रूतः, तयोः प्रत्ययार्थप्राधान्यमिति प्रकृत्यर्थविशेषितस्वार्थ–प्रतिपादकत्वं तावत् "क्त्वा"प्रत्ययस्य वक्तव्यम्। न ह्ययमर्थो निरङ्कुशो येनाऽऽनन्तर्यमात्रं प्रतिपादयेत्।*

---

वाक्यों में पाठक्रम ठीककर अर्थक्रम की सिद्धि होगी, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्रजति भुक्त्वा इस प्रकार पाठ करने पर विपरीत क्रम से अर्थप्रतीति होनी चाहिए, किन्तु वैसी अर्थप्रतीति नहीं होती।

आपका यह कथन हमारे पूर्ण अनुकूल है कि पूर्वक्रिया का भिन्न (फलादि) अर्थ करने पर वहाँ, "क्त्वा" प्रत्यय का नहीं, अपितु "तुमुन्"प्रत्यय का प्रयोग होना चाहिए, इसमें कोई विवाद नहीं है। जहाँ दो अप्रधान क्रियाकलापों को ध्यान में रखकर "भुक्त्वा भुक्त्वा" इत्यादि प्रयोग किया जाता है, वहाँ पूर्ववर्ती भुक्त्वा के "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ निश्चित रूप से पूर्ववर्तिता करना कठिन ही है।

आपका यह कथन है कि "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य है और उस आनन्तर्य अर्थ द्वारा पूर्वकाल का ज्ञान होता है, अतः "क्त्वा" का अर्थ पूर्वकाल करना निकृष्ट कोटि में है। इसे हम तब स्वीकार करेंगे, जब "क्त्वा" का अर्थ आनन्तर्य हो। थोड़ी देर के लिए हम उसे स्वीकार भी करें। देखिए– जहाँ प्रकृति (धातु) और प्रत्यय दोनों एक साथ अपने–अपने अर्थ का अभिधान करते हैं, वहाँ प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है। इसलिए "क्त्वा" प्रत्यय अपने अर्थ का अभिधान प्रकृति (धातु)

*एवञ्चानन्तर्यवादी प्रष्टव्यः, किमानन्तर्यं प्रकृत्यर्थोपरक्तमभिधत्ते, किंवोत्तरक्रियोपरक्तम् ? आद्ये किमानन्तर्यम्? पूर्वतोपरक्तम्, उत्तरतोपरक्तम् आनन्तर्यमात्रं वा ? नाद्यः पूर्वताप्रतिपादकशब्दाभावात् इष्टापत्तेश्च। न द्वितीयः भोजनस्यैवोत्तरकाल तापत्तेः, न तृतीयः, आनन्तर्यमात्रप्रतीतावपि व्रजतेर्नियतं पूर्वोत्तरभावप्रतिपत्त्यै शब्दान्तरापेक्षाप्रसंगात्।*

---

के अर्थ से सम्बद्ध करके ही करता है। वह निरंकुश नहीं होता, जिससे वह केवल आनन्तर्य अर्थ को संकेतित करे।

ऐसी स्थिति में आनन्तर्यार्थवादी से यह पूछंना चाहिए कि "क्त्वा" प्रत्यय का आनन्तर्य अर्थ मानने पर वह प्रत्यय किसके साथ सम्बद्ध होकर अपने अर्थ को संकेतित करता है।– (१) प्रकृति (धातु) के अर्थ से संबद्ध होकर अथवा (२) उत्तरवर्ती क्रिया से सम्बद्ध होकर ? उसमें भी पुनः यह प्रश्न उपस्थित होगा कि "क्त्वा"प्रत्यय (१) प्रकृत्यर्थ से सम्बद्ध होकर आनन्तर्य की प्रतीति कराता है अथवा (२) उत्तरवर्ती क्रिया से सम्बद्ध होकर उस अर्थ की प्रतीति कराता है, अथवा, (३) केवल स्वतंत्र रूप से आनन्तर्य की ही प्रतीति कराता है। उक्त तीन विकल्पों में प्रथम विकल्प इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि वहाँ पूर्वताप्रतिपादक कोई शब्द नहीं है। (प्रकृति = भुज) का अर्थ भोजन करता है, और यह हमारे लिए इष्टापत्ति है। (हमें नियतपूर्ववर्त्तिता अर्थ ही स्वीकार है।) द्वितीय विकल्प इसलिए समुचित नहीं है कि "भुक्त्वा" का प्रयोग "तुमुन्" अर्थ में करने पर फल (भोजन) की प्रतीति अनन्तर होगी। अतः "क्त्वा"प्रत्यय अनन्तरवर्ती "व्रजति" क्रिया से सम्बद्ध नहीं हो सकता। क्त्वा–प्रत्यय का अर्थ केवल आनन्तर्य मान लेने पर भी गमन (व्रजन) क्रिया की पूर्ववर्तिता अथवा पश्चाद्वर्तिता का ज्ञान होने के लिए वहाँ अन्य शब्द अपेक्षित होगा।

द्वितीयस्त्वसम्भावित एव। न ह्यन्यप्रकृतेरुत्पन्नस्य प्रत्ययस्याऽन्य–प्रकृत्यर्थोपरागः सम्भवति, अतिप्रसंगात्। किञ्च, तत्रापि किं तदुपरक्तत्वमानन्तर्यमात्रं वा पूर्वोपहितत्वं वा उत्तरतोपहितत्वं वा? नाद्यः, विवक्षितालाभात्। अत एव न द्वितीय तृतीयावपि, पूर्वोत्तरतावेदक शब्दाभावात्।

*अथाऽऽनन्तर्यमुत्तरभावित्वं स्यात् तथापि भुजेरुत्पन्नो व्रजेरुत्तरकालतां बोधयतीत्याश्चर्यरूप एव शास्त्रपरिपाकः।*

---

इसी प्रकार "क्त्वा"प्रत्यय अपनी उत्तरवर्ती क्रिया से सम्बद्ध होकर भी आनन्तर्य अर्थ का अभिधान नहीं कर सकता। क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय से निष्पन्न किसी भी शब्द में जो प्रत्यय जिस प्रकृति (धातु) से सम्बद्ध है, वह अपनी प्रकृति (धातु) से भिन्न अन्य प्रकृति (धातु) के अर्थ से सम्बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह उसकी सीमा से बाहर है। और भी, वहाँ भी "क्त्वा"प्रत्यय के उत्तरवर्ती क्रिया से सम्बन्ध का क्या आशय है ? (१) क्या वह केवल आनन्तर्य अर्थ का अभिधान करता है? अथवा (२) अपने से पहिले से सम्बद्ध है ? अथवा (३) अपने से उत्तरवर्ती से सम्बद्ध है। इन तीनों प्रश्नकोटियों में प्रथम कोटि इसलिए स्वीकार नहीं है कि इससे जो विवक्षित है, वह नहीं निकलता। इसीलिए दूसरी और तीसरी प्रश्न कोटि भी निरर्थक है। वहाँ पूर्ववर्तिता अथवा पश्चाद्वर्तिता का सूचक कोई दूसरा शब्द नहीं है।

और "क्त्वा"प्रत्यय से निष्पन्न आनन्तर्य अर्थ को उत्तरवर्ती क्रिया से सम्बद्ध करें तो यह अत्यन्त आश्चर्यजनक शास्त्रीय निष्कर्ष निकलेगा कि "भुज्" धातु से सम्बद्ध "क्त्वा" प्रत्यय "व्रज्"धातु के उत्तरकाल का बोध करा रहा है। (यह उपहासदृष्टि है।)

और भुक्त्वा व्रजति में "व्रजति" क्रिया को उद्देश्य मानकर उसका अनुभव विशेष्यकोटि में करते हैं और उसके आधार पर "क्त्वा"

*अथ व्रजनविशेष्यकानुभवबलादिदं कल्प्यते। किं तद्विशेष्यकानुभवो भोजनस्य पूर्वकालतायामपगच्छति ? अपगच्छत्येव। पूर्वकालत्वेऽभिधेये व्रजनपूर्वकालीना भोजनक्रियेति भोजनविशेष्यक एवाऽनुभवः स्यात् इति चेत्।*

*तत् किं "दण्डेन गामानय" इत्युक्ते दण्डस्य करणत्वेनाऽभिधाने "आनयनक्रियाकरणं दण्ड" इति अनुभवप्रसक्तौ दण्डकरणिका क्रियेति क्रिया विशेष्यकोऽनुभवोऽपयाति। तस्मात् यथा तत्र दण्डकरणिका क्रियेति प्रतीतिः, एवमत्र भोजनावच्छिन्नप्राक्कालव्रजनविशेष्यकोऽनुभवः सम्पाद्यताम्। उत्तरकालताप्रतीतिस्त्वर्थात् जघन्या आनयनक्रियायां दण्डसाध्यत्वप्रतीतिवत् इति सुखी भव।*

---

प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य करते हैं, यह आपका आग्रह हो तो पुनश्च यह प्रश्न उपस्थित होगा, कि गमन (व्रजन) क्रिया की विशेष्य कोटि में (मुख्य रूप से) प्रतीति क्या भोजन क्रिया के पूर्वकाल का ज्ञान होने पर नष्ट होती है? इस पर आप उत्तर देंगे, अवश्य नष्ट होती है। "क्त्वा" प्रत्यय का अर्थ (भोजन क्रिया की) पूर्ववर्तिता करने पर इस वाक्य का अर्थ होगा – पहिले भोजन, उसके अनन्तर गमन। इस प्रकार भोजन क्रिया की प्रतीति ही विशेष्यकोटि में मुख्यरूप से होती है। क्या यही आपका (आनन्तर्यवादियों का) आशय है ?

"दण्डेन गाम् आनय" (डण्डे से गाय हाँककर ले आओ) इस दृष्टान्त वाक्य में "दण्ड" का करणकारक के रूप में प्रयोग है। इसका अर्थ होता है "आनयन" क्रिया का करण कारक दण्ड है। ऐसा अर्थ करने पर हमारा (नियतपूर्वतार्थवादियों का) आपसे यह प्रतिप्रश्न है कि क्या वहाँ "आनयन क्रिया करण कारक दण्ड से सम्बद्ध है" इस प्रकार आनयन क्रिया की विशेष्यकोटि में प्रतीति नष्ट होती है ? (नहीं होती)। इस प्रकार वहाँ जिस प्रकार आनयन क्रिया करण कारक दण्ड से सम्बद्ध है– यह प्रतीति होती है, उसी प्रकार भुक्त्वा व्रजति इस

*न त्वानन्तर्यं क्त्वार्थः, सान्तरेऽपि भोजनादौ क्त्वादर्शनात्। न च स प्रयोगाभासः, बाधकाभावात्। यत् पुनरुक्तं प्रधानक्रियाप्रतीतिकृतमेव प्रतिनियतपूर्वकालत्वमिति, तदतिमन्दम्, भोजनं प्रति व्रजनस्य प्रधानत्वाभावात्। तस्य तदनङ्गत्वात्, तदङ्गत्वे वा स्विष्टकृदादिवत् उत्तरकालत्वस्यापि सम्भावितत्वात् इत्यलमतिप्रसंगेन।*

---

दृष्टान्त में आप (आनन्तर्यार्थवादी) भले ही व्रजन (गमन) क्रिया की विशेष्यकोटि में प्रतीति करते हुए भोजनकाल को पूर्ववर्ती और उसे व्रजनक्रिया से सम्बद्ध मानें। क्त्वा–प्रत्यय के आनन्तर्य अर्थ की प्रतीति उसी प्रकार निकृष्टकोटि में होगी, जिस प्रकार दण्डेन गाम् आनय इस वाक्य में दण्ड की "साध्य" के रूप में प्रतीति निकृष्ट है। (क्योंकि दण्ड साधन है। "साधकतमं करणम्" यही करण की परिभाषा है। वह साध्य नहीं है।) इस प्रकार आप निश्चिन्त हों। (यह उपहास है।)

(अतः यह निश्चित है कि) "क्त्वा"प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य नहीं है। क्योंकि (भोज़न के बाद अन्तराल लेकर बाहर निकलने पर भी) भुक्त्वा व्रजति इस प्रकार "क्त्वा"प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है। उसे हम प्रयोगाभास नहीं कह सकते, क्योंकि इरा प्रकार का प्रयोग करने में कोई हेतु प्रतिबन्धक नहीं होता। पुनश्च, आपका यह कथन भी अत्यन्त मन्दता (जड़ता) का परिचायक है कि प्रधान क्रिया की प्रतीति पूर्वक्रिया के पूर्वकाल का अर्थबोध कराती है। भोक्तुं व्रजति इत्यादि स्थल में गमन (व्रजन) क्रिया प्रधान नहीं है, भोजनक्रिया उसका अंग नहीं है। साथ ही, जिस प्रकार स्विष्टकृत् होम का सम्पादन सभी यज्ञानुष्ठान सम्पन्न होने के बाद विहित है, उसी प्रकार "भोजन के लिए जाता है" इस प्रयोग में "गमन"क्रिया के पश्चादवर्ती काल में ही भोजनक्रिया सम्भावित है, उसके पूर्व नहीं। अस्तु, अब अत्यधिक विषयान्तर को विश्राम देना चाहिए।

*सिद्धान्तपक्षद्वारा स्वमतस्थापनम् — सिद्धं तावत् पूर्वकालतायामेव क्त्वा। तस्मात् सुष्ठूक्तं 'निश्चित्य रामरक्षां पठेत्' इति। परस्परविरुद्धविशेषणविशिष्टतया साधकत्वाभिमताभ्यां हेतुभ्यां प्रतीयमानायां देवतायास्तात्त्विकस्वरूपनिश्चये तत्स्तुतिः प्रातर्गायककृत— स्तोत्रकल्पा नाल्पामपि पुरुषार्थकलां साधयेदिति तात्पर्यम्।*

*अत्राऽयं पूर्वपक्षक्रमः— महर्षेर्भगवतो वल्मीकजन्मनः परप्रतारकत्वाऽनुपपत्तेरसति तादृगर्थे तादृक्त्वेन वर्णनायोगात् तदितरकविदृष्टान्तावष्टम्भेन मिथ्यावादित्वकल्पना तावन्न युक्ता, येन यथाश्रुतार्थाऽसम्भवः स्यात्।*

---

अतः यह सिद्ध है कि "क्त्वा" प्रत्यय का प्रयोग पूर्वकाल की क्रिया को संकेतित करने के लिए ही किया जाता है। इसलिए ध्यात्वा रामरक्षां पठेत् का यह अर्थ है कि अर्थनिर्धारणपूर्वक रामरक्षा का पाठ करना चाहिए। इसका आशय यह है कि परस्पर विरुद्ध अर्थ के बोधक विशेषणों के कारण साधक जब देवता के स्वरूप का निश्चय नहीं कर पाता, तब अर्थबोध के बिना किया गया वह स्तोत्रपाठ उसी प्रकार निरर्थक होगा, जिस प्रकार बिना अर्थज्ञान के गायकों द्वारा प्रातः गायी गई स्तुति उनके लिए व्यर्थ होती है। उससे पुरुषार्थस्वरूप "त्रिवर्ग" (भोग) अथवा परमपुरुषार्थ (मोक्ष) का कलामात्र (सोलहवाँ अंश) भी प्राप्त नहीं हो सकता।

इस विषय में पूर्वपक्ष का आशय इस प्रकार है— भगवान् महर्षि वाल्मीकि दूसरों की वञ्चना नहीं कर सकते। साथ ही जो असत्य है, उसका सत्य—स्वरूप में वर्णन (वाल्मीकिरामायण के आधार पर) उनसे भिन्न कवियों के काव्यों में प्राप्त होता है। इस दृष्टान्त के आधार पर भी महर्षि वाल्मीकि के विषय में उनके असत्यभाषी होने की कल्पना करना भी समुचित नहीं है, जिससे श्रुति—परम्परा प्राप्त कथा असम्भव हो। वर्णनीय कथावस्तु की समीक्षा करने पर भी यथाश्रुत रामचरित

न च वर्णनीयवस्तुपर्यालोचनयाऽपि यथाश्रुतार्थाऽसम्भवः। लोकवत् तु लीलाकैवल्यम् इति न्यायानुगृहीतश्रुतिपुराणेतिहासादौ तस्य वस्तुनो जनिमत्तया सिद्धेः। श्रुतिस्तावत् –

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्टे ऋतूनन्यो विदधज्जायते पुनः।। इति।।

अस्यार्थ :– "एतौ मायया शिशू-(सन्तौ) अध्वरं परियात" इत्यन्वयः। एतौ = वक्ष्यमाणमाहात्म्यौ श्रीरामलक्ष्मणाभिधौ शिशू भूत्वा अध्वरं = विश्वामित्रस्य यज्ञम् अनेकरक्षोविक्षिप्तम्, परियातः = प्राप्तौ।

---

असम्भव (और मात्र कल्पित) नहीं है। ब्रह्मसूत्र का सिद्धान्त है– लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्। जिस प्रकार संसार में चित्र–विचित्र लीलाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार मात्र लोक–कल्याण के लिए परब्रह्म–परमात्मा विभिन्न योनियों में जन्म लेकर चित्र–विचित्र लीला करते हैं। इसी न्याय के अनुसार वेद–पुराणेतिहास आदि में परब्रह्म परमात्मा का जन्म लेना सिद्ध है।

यह वेदमन्त्र इस प्रकार है– पूर्वापरं चरतो माययैतौ इत्यादि। "एतौ मायया शिशू (सन्तौ) अध्वरं परियातः" यह इसका अन्वय है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है– एतौ = जिनका माहात्म्य भविष्य में प्रतिपादित होगा वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण नामक, "शिशू (सन्तौ) = बालक बनकर, "अध्वरम्" = अनेक राक्षसों द्वारा विध्वस्त विश्वामित्र के यज्ञ में, परियातः =पहुँचे। अर्थात् यज्ञ की रक्षा के लिए वे वहाँ पहुँचे। उक्त दोनों ने किस प्रकार शिशुस्वरूप धारण किया ? इसके लिए हेतु का उपन्यास है– "मायया" = "माया" नामक अपनी शक्ति से वे दोनों बालक हो गए। "माया" के स्वरूप के विषय में अनेक मत हैं। प्रथम परिभाषा यह है कि जो अपना ही आश्रय लेकर व्यामोह (भ्रम) उत्पन्न करती है, उस अनादि अविद्या को माया कहते हैं। अन्य जन माया को अविद्या से भिन्न स्वीकार करते हैं। (सांख्यदर्शनानुयायी) सत्व–रज–तमोगुण

"रक्षणाये"त्यर्थात् । कथं तयोः शिशुत्वमित्यत् आह – माययेति।[1] मायाऽभिधया स्वशक्त्येत्यर्थः। अनाद्यविद्यैव स्वाश्रयव्यामोहकत्वा – कारेणाऽभिमता मायात्वेनोच्यते इत्येके। भिन्नैवाऽविद्यातो मायेत्यपरे। गुणत्रयात्मिका प्रधानाऽव्यक्तादिशब्दवाच्या प्रकृतिरेव माया इत्यन्ये। परानभिज्ञत्वव्यापादिका काचिदिच्छैवेत्यपरे। सर्वथा शिशुत्वं तावत् सिद्धम्। कथम्भूतौ? क्रीडन्तौ। ताडकावधसुबाह्वादिवधप्रमुखक्रीडासक्तौ। एतौ कावित्यपेक्षायामाह – यौ पूर्वापरं चरत इति। भावप्रधानो निर्देशः। अग्रजत्वमनुजत्वं च प्राप्तावित्यर्थः। एकोऽग्रगामी, द्वितीयश्चाऽनुगामीति।

---

स्वरूपा त्रिगुणात्मिका प्रधान, अव्यक्त आदि शब्दों से संबोधित प्रकृति को ही माया कहते हैं। अन्य मत है कि कोई ऐसी इच्छा, जो दूसरों में अज्ञता का सम्पादन करती है, उसे माया कहते हैं। इस प्रकार उन दोनों के शिशुस्वरूप धारण करने में "माया" कारण है यह सिद्ध है। विश्वामित्र के यज्ञ में पहुँचते हुए वे कैसे प्रतीत हो रहे थे ? इस

---

१. मायाविषयेऽगस्त्यमुनिः श्रीरामं स्तौति–
"सृष्टेः प्रागेक एवाऽऽसीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ।।
त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ।।
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते।।"
(अध्यात्म० ३/३/२०–२२)
"सृष्टिलीलां यदा कर्तुमीहसे रघुनन्दन।
अंगीकरोति मायां त्वं तदा वै गुणवानिव।।
(तदेव ३/३/३०–३१)
श्रीरामः लक्ष्मणकृते मायास्वरूपं निरूपयति –
"अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत्।
सैव माया—— " (तदेव ३/४/२१,२२)

*ययोर्मध्ये अन्य इत्येकः विश्वानि = सर्वाणि, भुवनानि अवष्टभ्य प्रकाशयति। स्वाध्यस्तविश्वप्रकाशहेतुरित्येके। सर्वज्ञ इत्यपरे।*

*अन्यः पुनः ऋतून् विदधत् नर्जायते। अयमर्थः – लक्ष्मणस्य शेषावतारत्वात्, शेषस्य कालात्मकत्वस्य।*

*योऽयं कालो मयाऽऽख्यातः सोऽनन्त इति कीर्त्तितः।*

*इति पुराणादवगतेरनन्तशब्दस्य शेषवाचकत्वस्य अनन्तश्चास्मि नागानाम् इति भगवद्गीतादौ प्रसिद्धत्वात् कालस्य चाऽखण्डदण्डायमानस्य वसन्तप्रमुखर्त्तुकारणत्वात् ऋतून् विदधत् इत्युक्तम्। पुनः पदं काकाक्षिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते।*

---

जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है– यौ पूर्वापरं चरतः। यह भावप्रधान निर्देश है। इनमें एक अग्रज (ज्येष्ठ) बन गया और दूसरा अनुज (कनिष्ठ)। एक अग्रगामी था, आगे–आगे चल रहा था, दूसरा उसका अनुगामी था, उसके पीछे–पीछे चल रहा था। पुनश्च वे दोनों कौन थे" इस उत्सुकता का निवारण उत्तरार्द्ध में है– जिन दोनों के बीच में एक (अग्रज) सम्पूर्ण (चतुर्दश) भुवनों को व्याप्त कर प्रकाशित करता है। "स्वयं से अधिष्ठानभूत विश्व के प्रकाश का कारण है" इस आशय को कुछ लोग स्वीकार करते हैं। कुछ लोग उसे सर्वज्ञ कहते हैं।

अन्यः पुनः ऋतून् विदधत् जायते – इसका आशय यह है क्योंकि लक्ष्मण शेषावतार हैं, शेष कालस्वरूप हैं–

योऽयं कालो मयाऽऽख्यातः सोऽनन्त इति कीर्तितः

इस पुराणवचन के प्रमाणानुसार कालस्वरूप शेष का अपर पर्याय "अनन्त" है। इसमें भगवद्गीता का प्रमाणवचन इस प्रकार है– अनन्तश्चाऽस्मि नागानाम्। काल कभी खण्डित न होने वाला दण्ड है

*तेन चायमर्थः – यदा यदा श्रीरामो जायते, तदा तदा शेषात्मा लक्ष्मणोऽपि जायते इति।*

***इदानीं विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्टे** इति पृथक् कृत्वा उक्तः श्रीरामः **ऋतुलिंगन्यायेन** प्रतिसृष्टि अवतरतीत्याह–*

***नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।***
***भागं देवेभ्यो विदध्यात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुरिति।।***

*अस्यार्थः– "यो जायमानः" = प्रतिसृष्टि उत्पद्यमानः सन्, "नवो नवो भवती"ति ="सुन्दरतया प्रतिक्षणं नव इव प्रेक्षणीयो भवति" इत्यर्थः। इदं कुतोऽवसीयते इत्यत आह–"चन्द्रमा" इति। "चन्द्र"शब्दाभिलप्य इत्यर्थः। "रामचन्द्र" इति व्यपदेशो हि श्रीरामे प्रेक्षणीयतमत्वेनैवास्तीति ...*

---

और वसन्त आदि प्रमुख ऋतुओं का कारण है। अतएव इस वैदिक मन्त्र में **अन्यः** का विशेषण है **ऋतून् विदधत्** = जो वसन्तादि ऋतुओं का कारण है। वह कालस्वरूप दूसरा शेषावतार लक्ष्मण। पुनः पद का अन्वय काकाक्षि न्याय से दोनों ओर होगा। जिसप्रकार कौवे की आँख दोनों ओर देखती है, उसी प्रकार "पुनः" पद राम और लक्ष्मण दोनों से संबद्ध है। अतः इस वाक्य का आशय यह है– जब जब श्रीराम अवतीर्ण होते हैं, तब तब शेषावतार लक्ष्मण भी अवतीर्ण होते हैं।

**पूर्वापरौ चरतो माययैतो** इस वैदिक मन्त्र का तृतीय चरण **विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्टे** इस प्रकार पृथक्‌रूप से निरूपित करते हुए यह निरूपित कर रहे हैं कि भगवान् श्रीराम **ऋतुलिंगन्याय** से प्रत्येक सृष्टि में अवतीर्ण होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वर्ष वसन्तादिऋतुचक्र का आवागमन होता है, उसी प्रकार प्रत्येक कल्प में श्रीरामावतार होता है। वह वैदिक मंत्र इस प्रकार है – **नवो नवो भवति जायमानः** इत्यादि। इसका अर्थ यह है – **जायमानः** जो प्रत्येक कल्प में अवतार लेकर, **नवो नवो भवति** अपने सौन्दर्य के कारण

*भावः। अह्नां = दिनानां, केतुः = विशेषकः। यानि दिनानि श्रीरघुनाथोपासनयोपयान्ति, तानि विशिष्टानीति भावः। यश्च श्रीरामः उषसां = प्रातःकालानाम्, अग्रं = ब्राह्मं मुहूर्तम्, एति = चिन्तनीयत्वेन प्राप्नोतीत्यर्थः। तदा जगदीशस्मृतेर्बहुशो विहितत्वात् इति भावः। यश्च जायमानो देवेभ्यो भागं = यज्ञभागं विदधाति = राक्षसादिप्रतिबन्धशून्यं करोतीत्यर्थः। यश्चाऽऽयन् = स्मृतिपथमागच्छन् दीर्घमायुः प्रतरते = ददातीति।*

*तस्मात् सकलवेदशिरोमणौ ऋग्वेदे श्रीरामस्य जन्मोक्तेः न वस्तुपर्यालोचनयाऽपि श्रीरामायणस्य श्रौतार्थासम्भवः। न चाऽनयोर्मन्त्रयो–रन्यैरन्यथा व्याख्याततत्वात् असम्प्रदायिकव्याख्येयमिति मन्तव्यम्। "चत्वारि*

---

प्रतिक्षण दर्शनीय हैं। इसकी प्रेक्षणीयता का हेतु है उनका नाम चन्द्र। चन्द्रमा के समान आह्लादक हैं, श्रीराम के प्रति रामचन्द्र यह संबोधन उनकी प्रेक्षणीयता के कारण ही है। अह्नां केतुः श्रीरामचन्द्र जी विशिष्ट दिनों की स्मृतिपताका बन जाते हैं। अर्थात् जितने दिन श्रीराम जी की उपासना में व्यतीत होते हैं, वे विशिष्ट होते हैं। यश्च उषसाम् अग्रम् एति जो परमात्मा हमारे (उपासकों के) उषःकाल (ब्राह्ममुहूर्त) को चिन्तन काल के रूप में परिणत करते हैं। क्योंकि प्रायः जगदीश्वर का ध्यान उषाकाल में ही विहित है।

यश्च जायमानो देवेभ्यो भागं विदधाति और जो अवतीर्ण होकर देवताओं को यज्ञभाग वितरित करता है। अर्थात् राक्षस आदि जो यज्ञों में प्रतिबन्धक होते हैं, उन यज्ञों के प्रतिबन्धों को नष्ट करता है। यश्चाऽऽयन् दीर्घमायुः प्रतरते और जो बारंबार स्मृतिपथ में आते हुए (भक्तों को) लम्बी आयु प्रदान करते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण वेदों में शिरोमणिस्वरूप ऋग्वेद में श्रीराम के जन्म का निरूपण होने के कारण कथावस्तु की समीक्षा की दृष्टि से भी श्रीरामायण का वैदिक अर्थ कल्पनामात्र (असम्भव) न होकर

शृंगे"त्यस्याऽन्यैः कालादिपरतया व्याख्यातत्वेऽपि होतुराज्ये विषुवति विनियुक्तत्वात्' तदनुरूपव्याख्याया एव उचितत्वात् तद्वदत्रापि अस्या एव व्याख्याया उचितत्वात्। तथा अत्र किं नियामकमिति चेत्, अभिधानसामर्थ्यमेवेत्यवेहि, "चत्वारी"त्यस्य नाऽभिधानसामर्थ्यं स्पष्टमिति यथेष्टार्थकल्पनायां नियामकापेक्षा, अत्र तु न तथेति।

"प्रादुरासीत् सकलया कौसल्यायां परः पुमान्" इत्यादिपुराणानि तु प्रसिद्धान्येव। न च सूर्यवंशेऽजो राजाऽभूदुत्तरत्र च कुशोऽप्यभून्मध्ये दशरथश्रीरामावेव न जातौ, तौ वाल्मीकिना कल्पिताविति कल्पना युक्ता, प्रातिस्विकवचोविरोधात् कुशाद्युत्पत्त्यर्थमवश्यापेक्षणीयत्वाच्च। किञ्च यद्यत्र

---

वास्तविक घटनाओं पर आधारित, तथ्यपरक है। साथ ही आप यह न समझें कि अन्य विद्वानों ने **पूर्वापरं चरतो** और **नवो नवो भवति** इन दो वैदिक मन्त्रों की व्याख्या भिन्न की है, अतः यह व्याख्या सम्प्रदायसम्मत नहीं है। यद्यपि अन्य विद्वानों ने **चत्वारि शृंगा** इत्यादि मंत्र की व्याख्या कालपरक की है, तथापि (जहाँ उसका विनियोग हवनकर्ता द्वारा ३६१ दिनों तक चलने वाले संवत्सर सत्र में अर्द्ध संवत्सर–सत्र पूर्ण होने पर १८१ वें विषुवत् दिन के हवन में आज्याहुति के लिए किया जाता है।) वहाँ उसकी उसी प्रकार की व्याख्या समुचित है। उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों का व्याख्यान तदनुरूप करना ही समुचित है। इसमें नियामक हेतु क्या है इस प्रश्न का उत्तर यही है कि उन शब्दों का अभिधानसामर्थ्य ही श्रीरामपरक व्याख्या में नियामक है। **चत्वारि शृंगा** इस मंत्र में उस प्रकार की अभिधानशक्ति स्पष्ट नहीं है, वहाँ जिस प्रकार अभीष्ट अर्थ की कल्पना करने में नियामक अपेक्षित है, उस प्रकार यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं है।

**प्रादुरासीत् सकलया** इत्यादि पुराणवाक्य प्रसिद्ध हैं, जिसका अर्थ है – परमपुरुष मनुष्ययोनि में श्रीरामचन्द्र के रूप में अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ प्रकट हुए। यह कल्पना करना भी समीचीन नहीं है

*श्रुतिसामान्यमङ्गीक्रियते तर्हि श्रीकृष्णाद्युपाख्यानानामपि तथा त्वप्रसक्तौ गतं सकलपुराणप्रामाण्येनापीति सुष्ठु विष्णुभक्तिः प्रकटिता। न च श्रुति– सामान्यस्यायं विषयोऽपि। नित्यानित्यसंयोगविरोधापत्तौ किल तत्परिहारायायं न्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। न च पौरुषेये वाक्ये नित्यानित्यसंयोगावतारः। येन तत्परिहारायात्र श्रुतिसामान्यमङ्गीकरणीयम् किं ते कृण्वन्तीत्यादिवत्।*

*न च निरंजनस्य विशुद्धात्मनः परमपुरुषस्य गर्भवासादिविपुलतरवेदना– नुभवापादकजन्माङ्गीकरणप्रमाणकम्,*

---

कि सूर्यवंश में राजा अज हुए, बाद में कुश हुए, उन दोनों के बीच में दशरथ और श्रीराम का जन्म ही नहीं हुआ। वे महर्षि वाल्मीकि की कल्पना से प्रसूत हैं। पुराणों की राजवंशावली में प्रत्येक राजा का नामोल्लेख है, जिसमें अन्य राजाओं के साथ दशरथ और श्रीराम का भी नामोल्लेख है। इस प्रकार पुराणप्रामाण्य संदिग्ध होगा और कुश आदि अनन्तरवर्त्ती राजाओं की उत्पत्ति के लिए दाशरथी राम का अस्तित्व आवश्यक है। अतः पूर्व कल्पना समीचीन नहीं है। और यदि यहाँ पूर्वमीमांसादर्शनसम्मत श्रुतिसामान्य को स्वीकार कर दाशरथी राम के अवतार को मात्र महर्षि वाल्मीकि की कल्पना से प्रसूत माना जाता है, तो (आप जैसे वैष्णव भक्तों को सम्मत वेदों का उपबृंहण करने वाले पुराण–वाङ्मय में वर्णित) श्रीकृष्णचरित आदि पौराणिक आख्यानों को भी केवल जनश्रुति मानना पड़ेगा। उनकी ऐतिहासिकता नष्ट होगी। आपने अपनी यह अच्छी विष्णुभक्ति प्रकट की है। (यह उपहास दृष्टि है।) साथ ही यह श्रुतिसामान्य का विषय भी नहीं है। अपौरुषेय वैदिक वाक्यों में नित्यानित्य संयोग की प्रसक्ति होती है। जहाँ विरोध आता है, वहाँ विरोध परिहार के लिए अनित्य अर्थ का परित्याग करके "श्रुतिसामान्य" को स्वीकार किया जाता है। पौरुषेय पुराण वाङ्मय में वहाँ नित्यानित्य संयोग की प्रसक्ति ही नहीं होती, जहाँ उसके परिहार के लिए श्रुतिसामान्य को स्वीकार किया जाए।

इच्छावशेननृसिंहादिशरीरवदयोनि– जशरीराङ्गीकरणेनैव चिकीर्षितकार्यसिद्धेरिति वाच्यम्। रावणप्रार्थनावशेन तथाऽङ्गीकारात्। तथा हि – रावणेन किल मनुष्येष्वनास्थापरेण "मनुष्यव्यतिरिक्ताद् मम मृत्युर्मा भूदि"ति समाराधितो धाता प्रार्थितस्तथैव वरं ददौ। तत्र यदि परमात्मा जगद्रक्षणप्रवृत्तो मानुषं शरीरमनङ्गीकृत्य रावणं हन्यात्, ब्रह्मवाक्यमसत्यं स्यादिति। तन्निबन्धेन गर्भवासाङ्गीकारात् अतीन्द्रियज्ञानाभावे पित्राज्ञापरिपालनेन्द्रियनियमसत्यप्रतिज्ञताविकत्थ – नादीनां मानुषधर्माणामङ्गीकारः। वदन्ति ह्याधुनिका अपि ईदृशं पुरुषं ग्रामे अवलोक्यास्मिन् ग्रामेऽयमेव मनुष्य इति।

---

उदाहरणार्थ –

किं ते कृण्वन्ति कीकरेषु गावो
नाशिरं दुहे न तपन्ति धर्मम्।
आनो भर प्रमगन्दस्य वेदो
नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ।।[1]

इस ऋग्वैदिक मन्त्र में नित्यानित्यसंयोग है। यहाँ कीकरदेश में गौवों की स्थिति इत्यादि अनित्य अर्थ है। उसका परित्याग कर श्रुतिसामान्य को स्वीकार किया जाता है। पौरुषेय (पुराणादि) वाङ्मय में ऐसी स्थिति ही नहीं आती।

आप यह भी नहीं कह सकते कि परम–पुरुष भगवान् निरंजन – निर्मल, विशुद्धस्वरूप हैं। उनके लिए मनुष्ययोनि में जन्म की स्वीकृति आवश्यक नहीं है, जिसमें गर्भवास आदि प्रचुर वेदनाओं का अनुभव करना पड़े। क्योंकि परमात्मा अपनी इच्छा के अधीन होकर ही (न कि किसी के कहने से) नृसिंहादि अवतारों के समान ही अयोनिज शरीर को धारण कर अभीष्ट कार्य सिद्ध कर सकते हैं। यह कथन इसलिए समुचित नहीं हैं कि रावण की प्रार्थना के अधीन होकर ही परमात्मा ने

---

१. मण्डल ३, सूक्त ५३, मंत्र १४ ३, अ. ३, वर्ग २।

*न त्वसंहतस्य सर्वान्तरस्य तस्य गर्भवासम्भवः क्लेशोऽपि वक्तुं शक्यः। शरीरोपाधौ क्लेशावश्यम्भाव इति चेत् न। न हि शरीरं क्लेशसम्बन्ध – हेतुः किन्तु स्वसमवेतादृष्टम्। न च तदीश्वरस्यास्तीति कुतः क्लेशावसरोऽपि। न चैवं जानकीविरहव्यथादिवर्णनमयुक्तमिति वाच्यम्, तस्य मिथ्याभिनयरूपत्वात्। उक्तं च भागवते "स्त्रीसंगिनां गतिरिति प्रथयंश्चचार"[1] (६/१०/११) इति।*

---

मनुष्य योनि में जन्म लेना स्वीकार किया था। रावण मानवों के प्रति आस्था नहीं रखता था। (उन्हें वह निकृष्ट समझता था)। अतएव 'मनुष्य को छोड़कर और किसी प्राणी द्वारा मेरी मृत्यु न हो' इस इच्छा से उसने ब्रह्मदेव की आराधना की और उनके प्रसन्न होने पर उनसे वैसी ही प्रार्थना की। ब्रह्मदेव ने भी रावण को उसी प्रकार का वर दिया। ऐसी स्थिति में परमात्मा विश्व की रक्षा करने के लिए प्रवृत्त होकर मनुष्य योनि को अस्वीकार करते हुए रावण का वध करें, तो ब्रह्मदेव का वरदान असत्य होगा। ब्रह्मदेव के उस वरदान के बन्धन में पड़कर (मनुष्य योनि में) गर्भवास को स्वीकार करने के कारण अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से परे) ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में परमात्मा ने पिता की आज्ञा का परिपालन, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, सत्य–प्रतिज्ञा, आत्मप्रशंसा से विरक्ति आदि मानवोचित गुणों को स्वीकार किया था। आधुनिक लोग इस प्रकार के चरित्रशील व्यक्ति को देखकर यह कहते हैं कि पूरे गाँव में यही आदर्श पुरुष, चरित्रशील व्यक्ति है। परमात्मा तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे।

---

१. पूर्णं पद्यमित्थम्–
रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्षं वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम्।
भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः स्त्रीसंगिनां गतिरिति प्रथयश्चचार।।
(भागवते – ६/१०/११)

*न च तत्समवेतादृष्टाभावे तदीयशरीरोदयानुपपत्तिः शरीरस्यादृष्ट–जन्यत्वनियमादिति वाच्यम्। अस्मदाद्यदृष्टजन्यत्वात्तस्य। ननु शरीराभिमानिसतादृष्टजत्वनियमाच्छरीरोत्पत्तेरीश्वरस्य तदभावे तदभाव इति चेत् न। तदुत्पत्तिमात्रस्यादृष्टजन्यत्वमात्रेऽनुगते सति शरीररूपोत्पत्तिमत एव विलक्षणाननुगतकल्पनायां मानाभावात्। ईश्वरशरीरोद्भावानुकूलधर्माश्रवणान्नास्मदनुष्ठितादृष्टेनेश्वरशरीरोत्पत्तिः।*

---

परमात्मा व्यष्टिरूप से समस्त प्राणियों के अन्तर में वास करते हैं, अतः गर्भवास से उत्पन्न क्लेश की चर्चा भी नहीं की जा सकती। यदि आप यह प्रश्न करें कि शरीर की उपाधि रहने पर उसे कष्ट होना अवश्यंभावी है, तो यह प्रश्न भी समुचित नहीं है। क्योंकि शरीर क्लेश के सम्बन्ध का कारण नहीं होता, अपितु अपने से समवायसम्बन्ध से जुड़ा हुआ अदृष्ट (शुभाशुभ कर्मफल) ही उसमें कारण होता है। और उस अदृष्ट का सम्बन्ध ईश्वरमें जरा भी नहीं होता, अतएव उसे भला कष्ट का अवसर कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस पर पुनश्च आप तर्क कर सकते हैं कि फिर तो जब रावण ने सीता का हरण किया, उस समय प्रभु श्रीरामजी को जो विरहवेदना हुई, उसका वर्णन करना भी ठीक नहीं है। किन्तु आपका यह तर्क इसलिए असंगत है कि परमात्मा को विरहवेदना नहीं हो रही थी, परन्तु वे उस प्रकार का मिथ्या अभिनय कर रहे थे। जैसा कि भागवत का वचन प्रमाण है –

**स्त्रीसंगिनां गतिरिति प्रथयंश्चचार।** अर्थात् "अपनी प्रेयसी के सहवास में रहने वाले प्राणियों की गति उसकी विरहावस्था में इसी प्रकार कष्टकारिणी होती है" इसको प्रमाणित करने के लिए जानकी–विरहवेदना का मिथ्या अभिनय करते हुए भगवान् राम दण्डकारण्य में विचरण कर रहे थे।"

अदृष्ट (कर्मफल) के अभाव में मनुष्ययोनि में जन्म (शरीरधारण) की संगति नहीं लगती। क्योंकि शरीर की उत्पत्ति में अदृष्ट ही कारण

*नहि स्वर्गकामः पशुकाम इन्द्रियकामो वृष्टिकाम इत्यादिवत् ईश्वरशरीरोत्पत्तिकामः किञ्चिता कुर्यात् इति श्रूयत इति चेत् न। कश्यपादित्यादिभिस्तपसा पुष्कलेनेश्वरमाराध्य त्वया मत्पुत्रेण भवितव्यम् इति याचिते जगदीशेन शरीरं गृह्यते इति पुराणप्रसिद्धेः।*[1]

---

होता है। इस प्रकार भी आपको नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यह नियम हमारी—आपकी उत्पत्ति के लिए है, ईश्वर के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। साथ ही आपको यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि शरीर की उत्पत्ति तभी होती है, जब अदृष्ट के कारण शरीर का अभिमान बना रहे। हम शरीर को ही आत्मा समझ लें। अतः ईश्वर में शरीर का अभिमान नहीं रहता, अतः वह शरीर धारण नहीं कर सकता। यह शंका इसलिए समीचीन नहीं है कि केवल शरीर की उत्पत्ति में अदृष्ट कारण होता है, शरीराभिमान के प्रति नहीं। शरीरोत्पत्ति के सिद्धान्त में इस विलक्षण कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि ईश्वर के अवतार के प्रति तदनुकूल (सामान्य) धर्माचरण सुना नहीं

---

१. अध्यात्मरामायणस्य प्रमाणवचनानि त्वित्थम्। वसिष्ठस्य दशरथं प्रति उक्तिः—

"रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातन।
भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवाऽनघ।
त्वं तु प्रजापतिः पूर्वं कश्यपो ब्रह्मणः सुतः।
कौसल्या चाऽदितिर्देवमाता पूर्वं यशस्विनी।।
भवन्तौ तप उग्रं वै तेपाथे बहुवत्सरम्।
अग्राम्यविषयौ विष्णुपूजाध्यानैकतत्परौ।।
तदा प्रसन्नो भगवान् वरदो भक्तवत्सलः।
वृणीष्व वरमित्युक्ते त्वं मे पुत्रो भवामल।।
इति त्वया याचितोऽसौ भगवान् भूतभावनः।
तथेत्युक्त्वाद्य पुत्रस्ते जातो रामः स एव हि।। (अध्यात्म १/४/१२—१७)

*तस्मादेवं तर्कसहकारिणि इदं प्रयुज्यते – ईशः रामशब्दव्यवहार्य – शरीरावच्छेदेनोत्पत्तियोग्यो भवितुमर्हति, लीलावदात्मत्वात्, नटवदिति। मुक्तात्मसु व्यभिचारवारणाय लीलावदिति।*

---

गया है। हमारे (आपके) द्वारा अनुष्ठित अदृष्ट (सुकृत कर्मफल) से ईश्वर जन्म नहीं लेते।

जिस प्रकार स्वर्ग–पशुधन–इन्द्रिय–वृष्टि इत्यादि की कामना से विविध अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के अवतार की कामना से कोई अनुष्ठानसम्पादन सुना नहीं गया है, ऐसा भी आप नहीं कह सकते। क्योंकि पुराण में यह प्रसिद्धि है कि कश्यप–अदिति आदि दिव्य ऋषि–दम्पतियों ने कठोर तप के द्वारा ईश्वर की आराधना कर उनसे यह प्रार्थना की कि "भगवन् आप हमारे पुत्र के रूप में जन्म लें।" उस प्रार्थना को स्वीकार कर जगदीश्वर ने मनुष्य योनि में जन्म लिया।

इस कारण से तर्कसम्मत यह प्रयोग किया जाता है – "ईशः राम–शब्दव्यवहार्यशरीरावच्छेदेनोत्पत्तियोग्यो भवितुमर्हति लीलावदात्मत्वात्, नटवत्।" इसका आशय यह है – परब्रह्म परमात्मा जगदीश्वर "राम" शब्द द्वारा व्यवहार के योग्य शरीर के रूप में प्रकट हो सकते हैं। क्योंकि भगवान् लीलाशाली आत्मधर्मसम्पन्न हैं। जिस प्रकार नट लीला करता है, उसी प्रकार वे लीला करते हैं। केवल "आत्मत्वात्" इस हेतु का उपन्यास करने से जन्म–मरण–चक्र से मुक्त जीवात्माओं में यह हेतु व्याप्त होने से अतिव्याप्ति दोष होगा। इस दोष का निवारण करने के लिए उसके साथ विशेषण प्रयुक्त है – "लीलावत्"। लीलाशालिता परमात्मा में ही होती है, मुक्त जीवात्माओं में नहीं।

*पूर्वपक्षः :– ननु "लीला" शब्देन शरीरचेष्टोच्यते इच्छाविशेषो वा। नाद्यः, अन्योन्याश्रयात्[1]। न द्वितीयः । इच्छायाः "कामः संकल्प" इत्यादिना मनोनिष्ठतावगमात्।*

*ननु विशेषगुणरहितत्वान्मनसः कथं तद्गतत्वं विशेषगुणभूताया इच्छाया इति चेत न। मनःपरिणामत्वे इच्छायाः पूर्वोदाहृतवचनबलेन सिद्धे शरीरवता विशेषगुणरहितत्वे मनसः प्रमाणभावात्। कणादादिवाक्यं तु न श्रुतिविरोधे स्वार्थसाधकम्।*

---

पूर्वपक्ष – अब यह प्रश्न है कि "लीला" शब्द से क्या अर्थ अभीष्ट है? उससे शारीरिक चेष्टा अर्थ अपेक्षित है अथवा विशिष्ट प्रकार की इच्छा ? इन दोनों में प्रथम अर्थ सम्भव नहीं है, क्योंकि यह अर्थ करने से "अन्योन्याश्रय" दोष होगा। द्वितीय अर्थ भी समीचीन नहीं है, क्योंकि कामः संकल्प इत्यादि श्रुतिप्रमाणों से इच्छा को मनोनिष्ठ (अन्तःकरणवृत्ति) माना गया है।

इस पर आपका यह प्रश्न हो सकता है कि संकल्प–विकल्प स्वरूप मन में कोई विशिष्ट गुण नहीं रहता। ऐसी स्थिति में विशिष्ट

---

१. अन्योन्यमाश्रयतीति अन्योन्याश्रयः आ + श्री अच् न्यायमते तर्कविशेषः । स च एकस्य ज्ञानादिजननाय यथाऽन्यज्ञानाद्यपेक्षः तथा अन्यस्य ज्ञानादिजननायेतरस्य ज्ञानाद्यपेक्षेति स्वापेक्षापेक्षितत्वनिमित्तकोऽनिष्टप्रसंगः – शब्दस्तोममहानिधिः। "अन्योन्याश्रय" का शाब्दिक अर्थ है परस्परसापेक्षभाव। तर्कशास्त्र की दृष्टि से जिस प्रकार दो में से पहिले को समझने के लिए दूसरे को समझना आवश्यक होता है, उसी प्रकार दूसरे को समझने के लिए पहिले को समझना आवश्यक होता है। इस प्रकार अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होता है। प्रस्तुत संदर्भ में शरीरचेष्टा को समझने के लिए जिस प्रकार आत्मा अपेक्षित है, उसी प्रकार आत्मा के क्रियाकलाप के लिए शरीर अपेक्षित है। यही अन्योन्याश्रय दोषबीज है।

*अन्य इच्छति अन्यः प्रत्येति इति कथमिति चेत्। अन्यः प्रयतते अन्यश्चेष्टते इत्यप्ययुक्तमिति आत्मन्येव चेष्टाश्रयता स्यात्। आत्मन्यमूर्तत्वाच्चेष्टा न सम्भवतीति शरीरेऽङ्गीक्रियत इति चेत्। श्रुतिविरोधान्नात्मनि इच्छा सम्भवतीति तुल्यम्। तस्मादिच्छाया अन्तःकरणधर्मत्वादात्मसमवेतत्वादसिद्धो हेतुरिति वदतां मतमपाकर्तुं प्रतिज्ञामात्रतया हेतुविशेषोपादानात्।*

---

प्रकार की इच्छा मन का धर्म कैसे हो सकती है ? किन्तु यह प्रश्न इसलिए समीचीन नहीं है कि **संकल्पः कर्म मानसम्** (मानसिक क्रिया संकल्प कहलाती है) कामना को मनोरथ कहते हैं। इस प्रकार विशिष्ट प्रकार की इच्छा मन का परिणाम है, यह लोकसिद्ध है। जिस प्रकार शरीर विशिष्ट गुणों से रहित होता है, उस प्रकार मन भी विशिष्ट गुणों से रहित होता है ऐसा मानने में कोई नियामक प्रमाण नहीं है। कणाद इत्यादि के वचन वेदविरुद्ध होने पर प्रमाण कोटि में नहीं आते।

एक इच्छा करता है, (मन में इच्छा होती है) और दूसरा (आत्मा) उसका प्रत्यय (अनुभव) करता है यह कैसे सम्भव है। इस प्रश्न के उत्तर में यह निवेदन है कि एक (आत्मा) प्रयत्न करता है और दूसरा (शरीर) चेष्टा करता है, यह भी तर्कसम्मत नहीं है। इस प्रकार आत्मा ही चेष्टा का आश्रय होगा। इस पर आप यह कहें कि यतः आत्मा अमूर्त–निराकार है, उसमें चेष्टा ही नहीं हो सकती, अतः शरीर को उसका आश्रय माना गया है। ऐसी स्थिति में हमारा निवेदन यह है कि **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु** इत्यादि श्रुतिवचन इच्छा की अन्तःकरणवृत्ति स्वीकार करते हैं, अतः श्रुति का विरोध होने से जिस प्रकार चेष्टा आत्मा में नहीं रह सकती, उसी प्रकार इच्छा भी आत्मा में नहीं रह सकती। इसलिए उभयत्र स्थिति समान है। इससे यह सिद्ध है कि यतः इच्छा अन्तःकरण का धर्म है और आत्मा के साथ वह सम्बन्ध (समवेत) नहीं है, अतः **लीलावदात्मत्वात्** यह आपका हेतु असिद्ध है। यह आक्षेप इच्छा को अन्तःकरण वृत्ति मानने वाले करते हैं। उसका

*न च न प्रतिज्ञामात्रेणर्थसिद्धिरिति वाच्यम्। मनो नेच्छावत्। इन्द्रियत्वात्। चक्षुरादिवदिति प्रमाणान्तरात्। अन्यथा ज्ञानप्रयत्नयोरपि तत्राङ्गीकारे गतमात्मकथयाऽपीति विपक्षे बाधकस्तर्कः।*

*न च श्रुतिविरोधः। कामादीनां मनोऽधीनात्मलाभतया तत्परिणामरूपत्वाभिधानेनोपचरितार्थत्वात्। श्रुतेः स्वार्थे प्रामाण्याभावात्। तर्कोपगृहीताया एव श्रुतेः स्वार्थसाधनत्वात्।*

---

खण्डन करने के लिए केवल भगवान् के प्रतिज्ञास्वरूप इस विशिष्ट हेतु का उपन्यास है। नारद जब राम से कहते हैं –

प्रतिज्ञा ते कृता राम ! भूभारहरणाय वै।
तत्सत्यं कुरु राजेन्द्र सत्यसंधस्त्वमेव हि।।(अध्यात्म २/१/३४)

इस पर श्रीराम नारद से कहते हैं –

श्रृणु नारद मे किञ्चिद्विद्यतेऽविदितं क्वचित्।
प्रतिज्ञातं च यत्पूर्वं करिष्ये तन्न संशयः।।(अध्यात्म २/१/ ३६)

मात्र प्रतिज्ञा करने से (भूभारहरणादि) स्वरूप प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, ऐसा आपको नहीं कहना चाहिए। क्योंकि इसमें अन्य तर्क प्रमाण हैं – "मनो नेच्छावत्, इन्द्रियत्वात् चक्षुरादिवत्।" इसका आशय यह है – मन इच्छा से सम्बद्ध नहीं होता, क्योंकि वह इन्द्रिय है। इस तर्कप्रमाण में "मन" पक्ष है, "इच्छावत्" साध्य है, "इन्द्रियवत्" यह पंचम्यंत हेतु है और "चक्षुरादिवत्" यह दृष्टान्त है। आपकी दृष्टि में इच्छा मन से सम्बद्ध हो सकती है, परन्तु नैयायिकों की दृष्टि में वह आत्मा से सम्बद्ध है। अन्यथा उसे मन से सम्बद्ध मानने पर ज्ञान और प्रयत्न को भी मन से सम्बद्ध मानना पड़ेगा और आत्मा का अस्तित्व ही नष्ट होगा। इस प्रकार विपक्ष (नैयायिकों) का तर्क विपक्ष में ही बाधक होगा।

*किञ्च, मनसीच्छा नित्याऽनित्या वा। नाद्यः। सर्वदा प्रयत्नोत्पत्ति –प्रसंगात्। न द्वितीयः। असमवायिकारणानिरूपणात्। आत्मसंयोग एवाऽसमवायिकारणमिति चेत्, तस्य सर्वदा सत्त्वेन इच्छाया अपि सदातनस्वप्रसंगात्। प्रयोजनाद् वस्तुज्ञानवदात्मसंयोगोऽसमवायिकारण मिति चेत्, किं यो ज्ञानकः स एव, किं वाऽन्यः?*

---

और "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" इत्यादि वेदवचनों का विरोध भी नहीं होता। क्योंकि आत्मा मन के अधीन होता है और उससे प्राप्त कामोपभोग करता है। अतः लक्ष्यार्थ के रूप में काम आदि को मन का परिणाम कहा गया है, वह उसका वाच्यार्थ नहीं है। वाली के निधन के पश्चात् उसके विरह में शोकाकुल तारा द्वारा सुख – दुःखादि के सम्बन्ध के विषय में श्रीराम उपदेश देते हुए कहते हैं –

"आत्मा स्वलिंगं तु मनः परिगृह्य तदुद्भवान्।
कामान् जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्ततेऽवशः।।"

(अध्यात्म ४/३/२३, २४)

अर्थात्, जीवात्मा अपने लिंग (परिचायक चिह्न) मन को स्वीकार कर उसके माध्यम से प्रकट कामादि का उपभोग करते हुए संसार –चक्र में रागद्वेषादि पाशों से आबद्ध होकर उसके अधीन हो जाता है।

साथ ही (तर्करहित) वेदवाक्य अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि में प्रमाण नहीं होते। तर्कसम्मत वेदवचन ही अभीष्ट प्रयोजन के साधन होते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं – "श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।"}

और भी, मन में रहने वाली इच्छा नित्य (स्थायी) होती है अथवा अनित्य (अस्थायी)। इनमें प्रथम विकल्प स्वीकार नहीं है, क्योंकि ऐसा

*नाऽऽद्यः एकस्य असमवायिकारणस्य भावकार्यद्वयजनकत्वाऽयोगात्। न द्वितीयः, मनः न स्वसमवेतविशेषगुणजनकसंयोगाधिकरणम्, इन्द्रियत्वात्, चक्षुरादिवत् इति दिक्।*

---

मानने पर आत्मा में नित्य अवस्थित प्रयत्न की सर्वदा उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। साथ ही द्वितीय विकल्प भी मान्य नहीं है, क्योंकि (अन्तःकरणवृत्तिवादियों द्वारा इच्छा की उत्पत्ति में) असमवायिकारण का निरूपण ही नहीं किया गया है। यदि वे (उसकी उत्पत्ति में मन और) आत्मा के संयोग को ही असमवायिकारण मानें, तो सदा स्थायी रूप से इच्छा का मन और आत्मा के साथ संयोग होने के कारण इच्छा की भी वहाँ नित्य प्राप्ति होगी। और यदि, अन्तःकरणवृत्तिवादी अभीष्ट प्रयोजन से युक्त वस्तुज्ञान के सम्पादक आत्ममनःसंयोग को इच्छा की उत्पत्ति में असमवायिकारण मानें, तो यह विचारणीय है कि कौन सा संयोग असमवायिकारण माना जाय, जो ज्ञानजनक है, वह अथवा उससे भिन्न?

इनमें प्रथम विकल्प हो नहीं सकता, क्योंकि एक असमवायिकारण दो कार्यों का एक साथ सम्पादन नहीं कर सकता। जो ज्ञानोत्पत्ति का असमवायिकारण होगा, वह इच्छा की उत्पत्ति में सहायक नहीं होगा। दोनों के लिए दो असमवायिकारण मानने पड़ेंगे। द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है। इसमें यह तर्क प्रमाण है – "मनः न स्वसमवेत–विशेषगुणजनकसंयोगाधिकरणम्, इन्द्रियत्वात्, चक्षुरादिवत्।" इसका आशय यह है – "मन स्वयं से सम्बद्ध (समवेत) विशिष्ट गुण के सम्पादक संयोग का अधिकरण नहीं है। क्योंकि वह उसी प्रकार इन्द्रिय है, जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय होते हैं। अर्थात् इच्छा आदि गुण आत्मसमवेत होकर ही प्रकट होते हैं, मन से सम्बद्ध होकर नहीं। क्योंकि वह इन्द्रिय है और इन्द्रिय किसी विशिष्ट गुण का जनक नहीं होता। इच्छा आदि गुण आत्मवृत्ति है, अन्तःकरणवृत्ति नहीं। अतः ज्ञानजनक से भिन्न आत्ममनःसंयोग भी असमवायिकारण नहीं हो सकता।

*यदप्यनुमानम् – "विमतो नोत्पत्तियोग्यो भवितुमर्हति विभुत्वात् आकाशदिवदि" ति, तत्र किमनवच्छिन्नस्य तस्योत्पत्तिर्निषिध्यते, किंवाऽवच्छिन्नस्य। नाऽऽद्यं, इष्टापत्तेः। न द्वितीयं, आकाशे व्यभिचारात्। घटाकाशे उत्पत्तेरङ्गीकारात्। तस्मात् मुख्यार्थपरित्यागे कारणाभावान्न श्रुतिसामान्यमङ्गीकरणीयमिति प्राप्तम्।*

*(सिद्धान्तपक्षः–) एवं प्राप्तेऽभिधीयते। यत्तावदुक्तम् – "भगवतो महर्षेः वल्मीकजन्मनः परप्रतारकत्वानुपपत्तिरि"ति त"दोमि"ति ब्रूमः। यदुक्त "मसति तादृशेऽर्थेतादृक्त्वेन वर्णनायोगादि"!ति, तन्न। असत्येव तादृशे अर्थे परमकारुणिकानां तेषां तथात्वेन वर्णनोपपत्तेः।*

---

उत्तरकोटि में परब्रह्म श्रीराम के निर्गुण ध्यान के पक्ष में "विमतो नोत्पत्तियोग्या भवितुर्महति, विभुत्वात् आकाशादिवत्" अनुमान भी विचारणीय है। (इसका आशय यह है – निर्गुण–निराकार ब्रह्मस्वरूप श्रीराम का जन्म सम्भव नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त होने के कारण परमात्मा की भी उत्पत्ति नहीं होती।) इसमें यह विचारणीय है कि निरवच्छिन्न अर्थात् असीमित परमात्मा की उत्पत्ति का आप निषेध कर रहे हैं, अथवा अवच्छिन्न (सीमा में आबद्ध) उसकी उत्पत्ति का ? इसमें प्रथम विकल्प यदि आपको स्वीकार हो तो वह हमारे लिए इष्टापत्ति है। द्वितीय विकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि इसमें "आकाशादिवत्" यह दृष्टान्त व्यभिचरित होगा। घटाकाश, मठाकाश आदि की उत्पत्ति होती है, अतः वहाँ अतिव्याप्तिदोष की प्रसक्ति होगी। निष्कर्ष यह है कि यतः मुख्यार्थ का परित्याग करने में कोई कारण नहीं है, अतः पूर्वमीमांसासम्मत श्रुतिसामान्य को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

*सिद्धान्तपक्ष – इस आक्षेप के सम्बन्ध में हमारा यह कथन है। आपका यह कथन कि "भगवान् महर्षि वाल्मीकि दूसरे की वंचना नहीं कर सकते, यह असंगत है।" इसे हम स्वीकार करते हैं। किन्तु इसमें*

*लोको हि प्रायः संसारासक्तधीर्न सहसैव वेदान्तवेद्यं ब्रह्म जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुभूतं दशाचतुष्टयापन्नत्वेन चतुष्पाच्छब्दव्यपदेश्यं वस्तुतस्तु असंगकूटस्थ[1] स्वप्रकाशम् ईश्वरत्वजीवत्वाभ्यामनाक्रान्तं ज्ञातुमलम्, जन्ममालाऽर्जितदुरितदोषोपप्लुतान्तःकरणतया विषयैकतानत्वात्।*

*तदयं वाल्मीकिः कृपया यथा तस्मिन् ब्रह्मणि लीनान्तःकरणो भवति, लोकः, तथाऽऽख्यायिकां विरचय्य तत्र रसविशेषोत्पादनेन सुहृदयावर्जनं कृतवान्। एवं चात्राभिरताः सन्तोत्युत्तरत्र वेदान्तश्रवणपरिपाकवशात् स्वयमेवोहापोहकुशला मन्निर्माणचातुरीं ज्ञास्यन्ति तरिष्यन्ति च संसारसागरमि"ति तस्याभिसन्धिः। अत एव "सर्वकविमुकुटालंकार" इति गीयते।*

---

*आपका यह हेतु हमें मान्य नहीं है कि जिसकी सत्ता ही नहीं होती उसका उस प्रकार से वर्णन असम्भव है। परन्तु हम यह दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जिसकी सत्ता नहीं होती उसका उस प्रकार से वर्णन परम करुणाशाली कर सकते हैं।*

लोक प्रायः इस परिवर्तनशील संसार—चक्र में आसक्त रहते हैं। वह सहसा उस ब्रह्म को जानने में समर्थ नहीं होते, जो वेदान्त दर्शन द्वारा जाना जा सकता है। जो स्थावरजंगमात्मक जगत् की सृष्टि, स्थिति और विलय का कारण है, जो (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था इन) चार अवस्थाओं में रहने के कारण चतुष्पाद शब्द से संबोधित होता है। जो संगरहित और कूटस्थ (एकरूप होने के कारण सर्वकालस्थायी परिणामादि विकारशून्य) है। जो स्वप्रकाश है और जो ईश्वरत्व और जीवत्व से भी आक्रान्त नहीं है। (जन्म—मरणचक्रशाली

---

१. कूटस्थम् — एकरूपतया सर्वकालस्थायीति परिणामादिकार्यान्तरशून्ये आकाशादौ ब्रह्मणि च — शब्दस्तोममहानिधिः।

अन्यथा नाऽयं कालिदास–हर्ष–भारव्यादिवल्लोकोत्तरवर्णनानिपुणः, येन कविवर्यः स्यात्। ऋषिवर्यता तु भरद्वाजादिवत् अकृतेऽपि काव्ये भवति। तच्छैलीमनुविदधानश्च व्यासोऽपि तथैव पुराणानि रचयामासेति आदिकविरयमेव गीयते।

तथाहि, कर्मणि प्रवर्त्तयितुम् –

प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्तामग्नो प्रायच्छत्।
ततोऽजस्तूपरः समभवत् तं स्वायै देवताया आलभत्।।

(तैत्तिरीयसंहिता, द्वितीयकाण्डे, प्रथम–प्रपाठे प्रथम अनुवाकः)

---

संसार में जिनकी आसक्ति रहती है, वे लोक उसी तुरीय ब्रह्म को सहसा नहीं समझ सकते। वह केवल वेदान्त द्वारा ही जाना जा सकता है।) क्योंकि उनका अन्तःकरण जन्म – जन्मान्तरों में अर्जित पाप में लिप्त रहता है, अतः सदा वैषयिक सुखों में ही वे आसक्त रहते हैं।

तो इसीलिए महर्षि वाल्मीकि ने कृपापूर्वक जिस प्रकार लोकों का अन्तःकरण परब्रह्म परमात्मा में आसक्त हो, उस प्रकार की आख्यायिका की संरचना कर उसमें विशिष्ट रस की सृष्टि द्वारा उनके सुहृदयों को उसकी ओर आवर्जित किया। इसमें उनका उद्देश्य यह था कि "वे उस रसप्लुत आख्यायिका में रमकर अन्त में वेदान्तदर्शन के श्रवण से उसकी परिपक्वता के कारण मेरे (वाल्मीकि के) रचना–कौशल को समझेंगे और संसारसागर को पार करेंगे।" अतएव उन्हें "सर्वकविमुकुटालंकार" कहकर उनकी प्रशंसा की जाती है।

अन्यथा वे कालिदास, हर्ष, भारवि आदि के समान अलौकिक वर्णन करने में कुशल नहीं होते, जिससे "कविवर्य" पद प्राप्त होता है। उनकी ऋषिवर्यता तो केवल मन्त्रसाक्षात्कार से ही सिद्ध है। उसके लिए काव्यरचना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार "भरद्वाज आदि बिना काव्यरचना के ही केवल वैदिकमंत्रों के साक्षात्कार से ऋषिवर्य बन

*इति प्रतीयमानार्थाविवक्षयाऽर्थान्तरे तात्पर्यं वेदेऽपि दृश्यते, किमुतात्र पौरुषेये।*

*तस्य कवेरयमाशयः – दशरथो नाम वेदः। दश पुराण – न्याय – मीमांसा– धर्मशास्त्रांगलक्षणा रथा प्रचारोपायाः यस्येति व्युत्पत्त्या। स च सकलवर्णाश्रमनियन्तृत्वाद् राजा इति कल्पितः।*

*तस्य च कर्मकाण्डोपासना ब्रह्मज्ञानकाण्डात्मकस्य तिस्रः शक्तयः कैकेयी–सुमित्रा–कौशल्याशब्दवाच्याः।*

---

गये। उसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि की शैली का अनुसरण करते हुए महर्षि व्यास ने भी (अठारह) पुराणों की संरचना की।

वेद में भी हम देखते हैं कि वैदिक अनुष्ठान के विनियोग में जिस मंत्र का प्रयोग किया जाता है, वहाँ उसका जो अर्थ आपाततः निकलता है, उसकी वहाँ विवक्षा नहीं रहती।

(उदाहरणार्थ –"यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एव प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत" यह विधिवाक्य है, जिसका अर्थ है – "जो संतति की और पशु धन की कामना करता है उसे हविर्द्रव्य के रूप में प्रजापति देवता सम्बन्धी तूपर अज का आलभन करना चाहिए। इस अनुष्ठान में "प्रजापतिरात्मनः" पूर्वोक्त मंत्र का विनियोग होता है। यह मन्त्र प्रजापति की प्रशंसा के उद्देश्य से प्रयुक्त होता है। इसका जो अर्थ आपाततः निकलता है, वह यहाँ विवक्षित नहीं होता यही मीमांसकों की दृष्टि है।) वह अर्थ इस प्रकार है – "प्रजापति ने अपनी हृदय की वपा को निकालकर उसे अग्नि में हंविर्द्रव्य के रूप में समर्पित किया। उससे तूपर अज की सृष्टि हुई। उसका उसने अपने से अभिन्न देवता के लिए आलभन किया। यह अर्थ इसलिए विवक्षित नहीं है कि "प्रजापति स्वयं अपनी वपा निकालकर हवन करे, तो पुनश्च वह सृष्टि कैसे कर सकता है? अतः इस अर्थ को न लेकर प्रजापति की मात्र

*कोसलदेशे प्रायशो ब्रह्मनिष्ठा लोकाः। ताश्च (तेभ्यश्च) तस्मिन् देशे ब्रह्मप्रतिपादनशक्तेरभिव्यक्तत्वात् कोसल्येति व्यपदिश्यन्ते।*

*केकयेषु प्रायशः कर्मठा एव लोकाः। कर्मप्रतिपादनशक्तेः तत्राऽऽविर्भूतत्वात् कैकेयीति व्यपदेशः।*

---

प्रशंसा में इस मंत्र का तात्पर्य है, जिससे संतति और पशु–धन की कामना करने वाला इस अनुष्ठान में प्रवृत्त हो। इस प्रकार वेद में भी जो अर्थ आपाततः प्रतीत होता है, उसमें उसका तात्पर्य न होकर उसका भिन्न तात्पर्य होता है, जैसा कि उक्त मंत्र का तात्पर्य केवल प्रजापति स्तुतिपरक है।

ऐसी स्थिति में यदि वेद में प्रतीयमान अर्थ अविवक्षित हो और वहाँ श्रुतिसामान्य को लेकर प्रशंसापरक भिन्न अर्थ ग्राह्य हो, तो पौरुषेय आदिकवि वाल्मीकि द्वारा सृष्ट रामायण में प्रतीयमान राम की मानवोचित लीला को ग्राह्य मान कर उसका भिन्न अर्थ ग्राह्य क्यों नहीं हो सकता?

उस कवि का सम्पूर्ण आशय यह है – दशरथ का अर्थ है वेदभगवान्। इस शब्द की व्युत्पत्ति है – "दश रथाः यस्य सः।" जिसके दस रथ होते हैं वह (अष्टादश) पुराण, न्यायशास्त्र, पूर्वमीमांसा, धर्मशास्त्र और छः वेदांग (शिक्षा–कल्प–व्याकरण– निरुक्त – ज्योतिष–छन्द) ये दस उसके रथ अर्थात् प्रचार के उपाय हैं, जिनसे सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म का नियामक होने के कारण वेद– भगवान् की राजा के रूप में कल्पना की गयी है।

वेद भगवान् के तीन स्वरूप हैं – कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, और ब्रह्म (ज्ञान) काण्ड। उसकी तीन शक्तियाँ हैं, जिन्हें प्रस्तुत सन्दर्भ में कैकेयी, सुमित्रा और कौशल्या नाम से सम्बोधित किया गया है। कोसलदेश में प्रायः ब्रह्मज्ञानी लोग रहते हैं। उनसे ब्रह्म प्रतिपादन करने वाली शक्ति प्रकट होने के कारण उस शक्ति को कौसल्या कहते हैं।

*मगधेषु उपासनाशक्तेः मागधीति व्यपदेशः। सा च कर्मब्रह्मानुकूलार्थ–प्रतिपादकत्वात् सुमित्रेत्यपि व्यपदिश्यते।*

*ततश्च शक्तयस्तदेकाधीनत्वात् तत्पत्नीत्वेन कल्पिताः। एवञ्च तात्पर्यालोचनात्मकपुत्रेष्टिनिरूपिताभिव्यक्त्युपायेन एकैकया शक्त्या श्रीरामादयश्चत्वारोऽपि इह प्रथमतः प्रतीतिंविषयत्वसाम्येनोत्पन्ना इति कल्पिताः।*

---

केकयदेश में प्रायः कर्मठ लोग ही रहते हैं। उनमें कर्मप्रतिपादन शक्ति का आविर्भाव होने के कारण उस शक्ति को कैकेयी कहते हैं।

मगध देश में उपासना शक्ति को मागधी नाम से सम्बोधित किया जाता है। जिस प्रकार सुमित्र (सन्मित्र) अनुकूल आचरण करता है, उसी प्रकार उपासना शक्ति कर्मकाण्ड और ब्रह्म (ज्ञान) काण्ड के अनुकूल अर्थ का प्रतिपादन करती है, अतएव उस उपासना शक्ति को सुमित्रा भी कहते हैं।

वे शक्तियाँ यतः वेदभगवान् के अधीन हैं और (प्रस्तुत सन्दर्भ में वे ही राजा दशरथ हैं) अतः उन शक्तियों को उसकी तीन धर्मपत्नियों के रूप में कल्पना की गयी है। (पुत्रेष्टियज्ञ से राजा दशरथ को चार पुत्र हुए थे।) प्रस्तुत सन्दर्भ में यह पुत्रेष्टि यज्ञ वेद का तात्पर्यपर्यालोचन है, वेद भगवान् की तीन शक्तियों का ज्ञान हमें इसी से होता है, जो ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति के विभिन्न उपाय हैं। इस एक एक शक्ति (उपाय) से राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामों से सम्बोधित ब्रह्म, चैतन्य आदि की सर्वप्रथम प्रतीति होती है, जिनकी यहाँ पुत्ररूप में कल्पना की गयी है।

इन तीन शक्तियों में ब्रह्मकाण्डस्वरूप भगवान् वेद और "कौसल्या" शब्द से संबोधित मायाशक्ति द्वारा श्रीराम नामक ब्रह्म को प्रकट किया गया है। वह माया–शक्ति अखण्ड दण्डाकार स्वप्रकाश निरञ्जन

*तत्र ब्रह्मकाण्डात्मकेन वेदेन कौसल्याशब्दवाच्यया शक्त्या अखण्डदण्डायमान – स्वप्रकाश – निरञ्जन – चैतन्यनिष्ठया मायया तत्स्वरूपप्रकाशतामावृत्य जगदाकारेण परिणमन्त्या कृतावच्छेदजगन्नियन्तृ-सर्वशक्तिमत्–जगदीश्वरशब्दव्यपदेश्यं श्रीरामाख्यं ब्रह्म प्रकाशितम्। एतदेव महर्षेर्मतमित्यभिसन्धाय भगवता सूत्रकृतोक्तम् – "शास्त्रयोनित्वाद्" इति। विवृतं च श्रीमता भाष्यकृता "शास्त्रं योनिः कारणं यस्ये"ति। तेन युज्यते वेदे ब्रह्मपितृत्त्वोपचारः।*

*ततः कर्मकाण्डात्मकेन कैकेयीशब्दवाच्यया शक्त्या अविद्यापरिणामान्तःकरणमुकुरोपाधौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यमविद्यादर्शितसम्बन्ध –*

---

(तमोरहित निर्मल) चैतन्य में अधिष्ठित और उस चैतन्य के प्रकाशस्वरूप को आच्छादित जगत् के रूप में परिणत है। उनसे वह ब्रह्म प्रकट होता है, जो उस शक्ति द्वारा व्याप्त जगत् का नियामक और सर्वशक्तिसम्पन्न है। उस श्रीराम नामक ब्रह्म को जगदीश्वर भी कहते हैं। और यही महर्षि वाल्मीकि का मत है। इसको अच्छी तरह समझकर ब्रह्मसूत्रकार भगवान् वेदव्यास ने वेद–भगवान् को "शास्त्रयोनि" कहा – **"शास्त्रयोनित्वात्"**, और भाष्यकार श्री आद्यशंकर भगवत्पाद ने इसका समासविग्रहपूर्वक भाष्य किया – **"शास्त्रं योनिः कारणं यस्य"**, शास्त्र जिसका कारण है। इसलिए वेदभगवान् (दशरथ) को श्रीराम नामक ब्रह्म का पिता कहना लाक्षणिक प्रयोग की दृष्टि से युक्तिसंगत ही है।

अनन्तर कर्मकाण्ड स्वरूप वेदभगवान् और कैकेयी नामक प्रतिपादिका शक्ति द्वारा "भरत" शब्द से अभिधेय चैतन्यस्वरूप को प्रकाशित किया गया है। वह चैतन्य उस शक्ति द्वारा अविद्या के परिणामस्वरूप अन्तःकरण दर्पण की उपाधि में प्रतिबिम्बित होता है। फलतः अविद्या द्वारा प्रदर्शित सम्बन्ध से जीव के रूप में (परम चैतन्य का) अंश होकर प्रकट होता है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने के कारण कर्तृत्व,

*समासादितजीवत्वविभागम् अन्तःकरणकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपरक्तं नानाविधान् "जातोऽहम् अयं पिता, इयं माता" इत्यादिस्वप्नान् पश्यन् कर्मजडैकस्वभावं तैजसात्मकं भरतशब्दवाच्यं चैतन्यं प्रकाशितम्।*

*तत उपासनाकाण्डात्मकेन वेदेन सुमित्राशब्दव्यपदेश्यया शक्त्या स्वर्गापवर्गोपायभूतोपासनाप्रकटनेन चैतन्यावस्थाद्वयं प्रकटितम्। तत्र यः प्राचीनसुकृतपरिपाकक्षीणकल्मषो वेदान्तोक्तोपासनां ब्रह्मभावाय विन्दते विश्वभावनात्मा वस्तुमात्रं ब्रह्मरूपं संसारदशायामेव पश्यति तल्लक्ष्मणशब्दवाच्यं चैतन्यं ब्रह्मशब्दप्रकाश्यश्रीरामावगत्यनुकूलमिति तत्सहचरितं गीयते।*

---

भोक्तृत्व आदि भावों को भी वह स्वयं को समझता है और विविध प्रकार के स्वप्न देखता है – "मैं पुत्र हूँ, यह मेरे पिता हैं, यह मेरी माता है आदि। उस चैतन्य का स्वभाव एकमात्र कर्म होता है और उसका स्वरूप तैजस होता है।

पश्चात् उपासनाकाण्डस्वरूप वेदभगवान् दशरथ और सुमित्रा शब्द से सम्बोधित उपासनाशक्ति द्वारा चैतन्य की दो अवस्थाएँ प्रकाश में आती हैं – (१) स्वर्गप्राप्ति का उपायस्वरूप और (२) मोक्षप्राप्ति का उपायस्वरूप। उनमें जन्मान्तर के पुण्यों के परिणामस्वरूप जिसके पाप क्षीण होते हैं, जो वेदान्तदर्शनसम्मत उपासनामार्ग को ब्रह्मपद–प्राप्ति का उपाय समझता है और संसार में रहते हुए भी सत्तामात्र ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है, उस चैतन्यांश (जीव) को लक्ष्मण कहते हैं। साथ ही ब्रह्मशब्द प्रकाशयोग्य श्रीराम की गति के अनुकूल होने के कारण लक्ष्मण को उसका सहचारी कहा जाता है। जो वेदान्त द्वारा प्रतिपाद्य सबमें ब्रह्मस्वरूप का ध्यान करते हुए भी अविद्या के विनाश के अनुकूल नहीं रहता, किन्तु प्राचीन कर्मसंस्कारों के कारण स्वर्गादि की ही अभिलाषा करता है, उस चैतन्य (जीव) को शत्रुघ्न कहते हैं

*यस्तु वेदान्तप्रतिपाद्यां सर्वस्य ब्रह्मात्मकतामभिध्यायन्नपि नाविद्याविनाशानुकूलत्वेनास्ते किन्तु प्राचीनकर्मसंस्कारवशात्कामानेव चिन्तयति तच्चैतन्यं शत्रुघ्नपदाभिधेयं तैजसात्मकभरतानुकूलमिति प्रज्ञात्मकं तत्सहचरितं गीयते एवं च सुमित्रायाः पुत्रद्वयम् एकः श्रीरामानुयायी एकश्च भरतानुयायीति प्रसिद्धिः।*

*अत्र जाग्रद्दशा नामापरोक्षसाक्षात्कारानुकूलप्रयत्नवत्ता। स्वप्नदशा तु कर्ममात्रानुकूलप्रयत्नवत्ता। तदुभयविलक्षणी चेयं दशेति सुषुप्तिदशेति व्यपदिश्यते।*

---

और वह तैजसात्मक चैतन्य भरत के अनुकूल रहता है। वह प्राज्ञस्वरूप और भरत का अनुगामी कहा जाता है। इस प्रकार यह प्रसिद्धि है कि सुमित्रा के दो पुत्र थे, जिनमें एक श्रीराम का और दूसरा भरत का अनुयायी था।

(अपने आश्रम में प्राप्त श्रीरामजी की प्रशंसा करते हुए अगस्त्यमुनि में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का इस प्रकार वर्णन किया है–

"जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजैर्गुणैः।
तासां विलक्षणो रामः त्वं साक्षी चिन्मयोऽव्ययः ।।"

(अध्यात्म० ३/३/३०)

अर्थात् हे राम ! बुद्धि से उत्पन्न सत्त्व–रज और तम इन तीन गुणों से यथाक्रम तीन वृत्तियाँ (अवस्थाएँ) प्रकाशित हैं, आप उनसे विलक्षण (सर्वथा पृथक्) साक्षी चित्स्वरूप अव्यय (अविनाशी) हैं।

इनमें जाग्रत् अवस्था का अर्थ है प्रत्यक्ष साक्षात्कार के अनुकूल प्रयत्नशीलता। स्वप्न–अवस्था का अर्थ है कर्ममात्र के अनुकूल प्रयत्नशीलता। उन दोनों अवस्थाओं से पृथक् अवस्था का नाम है सुषुप्ति अवस्था।

*सीता तु मायैव अनादिसिद्धा। अत एवास्यामयोनिजत्वप्रसिद्धिः। जनकपालिता च भवत्येव। न ह्यजनकस्तादृशः पालनं करिष्यति। तथा हि, सा विशुद्धेन चैतन्येन जीवब्रह्मभावनापन्नेन पालितैव तदाधारत्वात्। भवति च तच्चैतन्यं जनकं, सर्वजनकमायासंग्रहकर्तृत्वात्। यथा घटजनकमृत्पिण्डसंग्रहवान् कुलालोऽपि जनकत्वव्यपदेशं लभते तद्वदिति।*

*यथा च श्रीरामादीनां स्वरूपाण्यस्माभिरुपवर्णितानि, तथैव वेदे। श्रीरामोत्तरतापनीये प्रणवव्याख्यायामुक्तम्। अथैते श्लोका भवन्ति –*

*"अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः ।*
*उकाराक्षरसम्भूतो[1] भरतस्तैजसात्मकः ।।*
*प्राज्ञात्मकस्तु शत्रुघ्नो[2] मकाराक्षरसम्भवः।*
*अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ।*

---

सीता माता तो अनादिसिद्ध माया ही है। अनादिसिद्ध होने के कारण ही यह प्रसिद्धि है कि वह अयोनिजा है (स्त्री–पुरुष संसर्ग से उत्पन्न नहीं है।) साथ ही जनक के द्वारा उसका अवश्य पालन–पोषण होता है। क्योंकि जो जनक नहीं होता, वह उस प्रकार पालन–पोषण नहीं करता। उसका पालन–पोषण जीवात्मा और परमात्मा दोनों के ऐक्यभावापन्न चैतन्य द्वारा होता है, क्योंकि वही उसका आधार है। और वह चैतन्य सभी प्रकार की माया का संग्रहकर्ता होने के कारण उसी प्रकार 'जनक' कहलाता है जिस प्रकार, घड़ों के जनक मृत्पिण्डों का संग्रह करने वाला कुम्भकार 'जनक' कहलाता है।

और, जिस प्रकार हमने श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और सीता के स्वरूपों का वर्णन किया है, उसी प्रकार अथर्ववेद के

---

पाठभेदाः – १. सम्भूतः शत्रुघ्नः २. भरतो ३. भवति

*श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ।*
*उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ।*
*सा सीता भवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।*
*(प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ।।)*
*(रा.उ.का.३/१–४)*

*अतोऽवस्तुत्वेऽपि वर्णना युक्ता। यत्तूक्तं वर्णनीयवस्तु पर्यालोचनया यथाश्रुतार्थसम्भवस्तदप्यनेन प्रत्युक्तम्। न च 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'*

---

ब्राह्मणभाग श्रीरामोत्तरतापनीय उपनिषद् में भी प्रणव (ओंकार) की व्याख्या के अवसर पर उनका निरूपण है।

प्रणव (ओंकार) की छः कलाएँ हैं– (१) अकार, (२) उकार, (३) मकार, (४) अर्धमात्रा, (५) नाद और (६) बिन्दु। इन छः कलाओं में सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मण (प्रणव के) अकार से प्रकट हुए हैं, जिनकी भावना (जाग्रत् अवस्था के अभिमानी) "विश्व" (चैतन्य) के रूप में करनी चाहिए। श्री भरत उकार से प्रकट हुए हैं, जिनकी भावना (स्वप्नावस्था के अभिमानी) "तैजस" (चैतन्य) स्वरूप करनी चाहिए। मकार से शत्रुघ्न प्रकट हुए हैं, जिनकी भावना (सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी) "प्राज्ञ" (चैतन्य) स्वरूप करनी चाहिए। श्रीराम (प्रणव की) अर्धमात्रा से प्रकट हुए हैं, और जो केवल ब्रह्मानन्दस्वरूप हैं। जिनकी भावना तुरीय ब्रह्म के रूप में करनी चाहिए। नाद–बिन्दुस्वरूपा (श्रीसीतामाता जी) तुरीयब्रह्मस्वरूप श्रीराम के सान्निध्य में रहने के कारण अखिल ब्रह्माण्ड को आनन्द प्रदान करने वाली और (स्थावर–जंगमस्वरूप समस्त जगत् के) सम्पूर्ण देहधारी जीवों की उत्पत्ति (सृष्टि), स्थिति (रक्षा) और संहार को करने वाली हैं। आपको ही मूल प्रकृति नाम से जानना चाहिए। (ब्रह्मवादी लोग प्रणवस्वरूप श्रीराम ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण आपको ही प्रकृति कहते हैं।) इसलिए यह सिद्ध है कि अवास्तविक विषय का वर्णन भी युक्तिसंगत है।

*ति न्यायानुगृहीतश्रुतिपुराणादौ जनिमत्तया सिद्धिरिति वाच्यम् श्रुतिस्तावच्छिशुत्वे मायेतिपदेन हेतुं वदन्त्यवास्तवजन्मप्रतिपादकत्वेन तत्र– स्वतात्पर्याभावमभिव्यनक्ति। किञ्चानित्यमायिकजन्मप्रतिपादनान्नित्यानित्यसंयोगविरोधोऽपि तदवस्थ एवेति श्रुतिसामान्यत्वमेवार्थः एवं न्यायोऽप्यवास्तवजन्म प्रतिपादयतीति। यत्तूक्तं निरंजनस्येत्यादि, तत्तथैवेत्यङ्गीक्रियते।*

*न च रावणवधार्थं जन्माङ्गीकार्यमवश्यमिति वाच्यम्। तस्य मायिकत्वेन सिद्धेः। ननु तर्हि सर्वज्ञवाल्मीकिवर्णितरावणवधादिवर्णनस्य परमार्थपक्षे का गतिस्तस्यावतारे महाप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धेरिति चेत्। नायमभिप्रायः*

---

पूर्वपक्ष के इस कथन का भी इसी से निराकरण हो जाता है कि "वर्णनीय कथावस्तु की समीक्षा करने पर यथाश्रुत (श्रुतिपरम्परा प्राप्त) अर्थ असम्भव मात्र कविकल्पित प्रतीत नहीं होता।" **लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्** इस ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तानुसार वेद–पुराण आदि परब्रह्म परमात्मा के जन्म को वास्तविक सिद्ध करते हैं, यह भी आप नहीं कह सकते। क्योंकि **पूर्वापरं चरतो माययैतो** इत्यादि वैदिक मन्त्र राम–लक्ष्मण के शिशुत्व (बालभाव) में "इस हेतु का उपन्यास करते हुए उन दोनों के जन्म की अवास्तविकता का प्रतिपादन कर उस अर्थ में अपनी सम्मति नहीं देता। और भी, इस मन्त्र में अनित्य मायिक जन्म का प्रतिपादन करने के कारण **सर्वविरोधास्पदं ब्रह्म** इस न्याय के अनुसार वर्णित नित्य–अनित्य दोनों अर्थों के परस्पर विरोध को भी उसी कोटि में अर्थात् अवास्तविक सिद्ध करता है। इसीलिए श्रुतिसामान्यसम्मत अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। **सर्वविरोधास्पदं ब्रह्म** यह न्याय भी अवास्तविक जन्म का ही द्योतक है। इसके पूर्व हमारा यह प्रतिपादन कि परब्रह्मपरमात्मा निरंजन–विशुद्ध स्वरूप होने के लिए उन्हें मनुष्य योनि में जन्म लेना आवश्यक नहीं है, इत्यादि वह यथावत् है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं है।

*कवेः स्वस्वरूपपीडनात्। कर्तृत्वाद्यध्यासेन चिदचिद्ग्रन्थिस्वरूपोऽहंकारोऽहं–प्रत्ययवेद्यां रावणशब्देनाऽभिधीयते। स च बहिर्विषयग्रहणे दशेन्द्रियप्राधान्याद् दशास्य इति व्यपदिश्यते। तस्य च श्रीरामेण वधो नाम स्वस्वरूपाभिव्यक्तौ सिद्धो ध्वंस इति।*

*तथा च प्रातीतिकपारमार्थिकार्थद्वयमुद्दिश्य पूर्वतापिन्याम् ऋषिपुत्रस्तुतौ उभयविधां निरुक्तिमाह श्रुतिः क्रमेण–*

*स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः ।*
*रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे ।।*

---

आप यह भी नहीं कह सकते कि रावणवध के लिए श्रीराम का जन्म लेना अवश्य स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वह जन्म भी माया का ही प्रकार है। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ त्रिकालदर्शी भगवान् वाल्मीकि द्वारा वर्णित रावणवध आदि विषयों की परमार्थ पक्ष में क्या संगति लगेगी ? इस प्रश्न का समाधान यदि आप यह करें कि रावणादि राक्षसों का वध ही श्रीरामावतार का महाप्रयोजन था तो यह समाधान समुचित नहीं है। क्योंकि आदिकवि का यह अभिप्राय नहीं है। इससे परब्रह्म का अपना स्वरूप ही बाधित हो रहा है। "रावण" का अर्थ प्रकृत सन्दर्भ में (जीव में शरीराभिमान के कारण) मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ आदि का अध्यास करते हुए "अहम्" प्रत्यय से जो जाना जा सकता है वह अहंकार ही है। वह चित्–अचित् ग्रन्थिस्वरूप है। उस रावण को दशानन भी कहते हैं, क्योंकि बाह्यविषयों को प्रधानरूप से दस इन्द्रियाँ ही ग्रहण करती हैं। जब तुरीय ब्रह्म श्रीराम का साक्षात्कार हो जाता है, तब वह अहंकार नष्ट हो जाता है। इसी का नाम है श्रीराम के द्वारा रावण का वध।

और, इस प्रकार भासमान और पारमार्थिक (वास्तविक) दोनों अर्थों को लक्ष्य कर अथर्ववेद की उपनिषद् श्रीरामपूर्वतापिनी में ऋषिपुत्रों

*स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः ।*

*(रामपूर्वतापिनी ४/१७–१८)*

*"रामपत्नीमि" त्यत्राऽऽद्यवर्णं "वन" इति द्वितीयाद्यपदेन एका निरुक्तिः द्रष्टव्या। द्वितीया स्पष्टा। अतो नाऽस्मत्कल्पनायां विरोधः। अनेनैव "कश्यपादिभिर्याचित" इति तर्कः पराहतो द्रष्टव्यः।*

*यत्तु "ईशः रामशब्दव्यवहाराय शरीरावच्छेदेनोत्पत्तियोग्यो भवितुमर्हति लीलावदात्मत्वान्नटवत्' इत्यनुमानमुक्तम् स वाच्यः किं लीलाशब्दः इच्छाभिधायी वा ? नाद्यः, स्वरूपासिद्धेः। कथम् ? इच्छायाः श्रुत्या अन्तःकरणधर्मत्वप्रतिपादनात्।*

---

द्वारा की गई स्तुति में दोनों प्रकार का निर्वचन "स्तुवन्त्येवं हि ऋषयः" इत्यादि मन्त्रों द्वारा वेदमाता क्रमशः कहती है, जिसका आशय यह है– "उस समय ऋषिपुत्र इस प्रकार स्तुति करने लगे। जब आसुरी वृत्ति का रावण अपने ही निवारण (संहार) के लिए "वन" (दण्डकारण्य की पंचवटी) में अवस्थित "रामपत्नी सीता को हर ले गया, तब उसकी प्रसिद्धि "रावण" नाम से हुई। अथवा "राव" के कारण वह रावण कहलाया। (इस मन्त्र के "रामपत्नीं वनस्थां यः" इस चरण के "राम" शब्द का "रा" और "वनस्थां" के "वन" अक्षरों को जोड़कर "रावण" नाम का प्रातीतिक निर्वचन होता है। अथवा "रावात् रावणः" इस निर्वचन से पारमार्थिक अर्थ की संगति लगती है, क्योंकि दस इन्द्रियाँ ही देहधारी जीव को अपने बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट कर उसे डराती हैं और सताती हैं। अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही पारमार्थिक दशानन–वध है। इस प्रकार द्वितीय निर्वचन स्पष्ट है। इसलिए हमारी कल्पना में (श्रुति का) कोई विरोध नहीं है। और इसीसे "अदिति और कश्यप द्वारा प्रार्थना करने पर श्रीराम ने जन्म लिया" इत्यादि प्रकार की पुराण कथाओं के प्रामाण्य से प्रातीतिक अर्थ के पक्षधरों का तर्क भी निरस्त हो जाता है।

*ननु 'मनो नेच्छावत् इन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवदि'ति अनुमानेन नान्त :–करणधर्मत्वमित्युक्तम्। न । विपक्षे बाधकतर्काभावात्।*

*ननूक्त एव तर्कस्तर्हि ज्ञानप्रयत्नयोरप्यङ्गीकारे गतमात्मकथयेति। न । तस्याऽनिष्टापादकत्वाभावात्। तथाहि, अहंप्रत्ययप्रत्यभिज्ञाभ्यां तस्य सिद्धेः। अन्यत्रापि प्रत्ययो दृश्यत इति चेत्, तस्याऽध्यासिकत्वेनाऽप्युपपत्तेः।*

*विपरीतं किं न स्यात् बाधकाभावादिति चेत्, 'मम शरीरमि'त्यादि बहूनां बाधकानां सत्त्वात्। ननु तवापि 'मम आत्मा' इति बाधकमस्तीति चेत् मैवम्। आत्मशब्दस्य स्वरूपवाचकत्वेन बाधितत्वात् तस्याः प्रतीतेः घटस्य स्वरूपमितिवद्भेदासाधकत्वात्। अत एव मन आदीनां नात्मत्वमाशङ्कनीयम्।*

---

आपने "ईशः रामशब्दव्यवहार्यशरीरावच्छेदेन उत्पत्तियोग्यो भवितुमर्हति" इत्यादि अनुमान प्रयोग कराते हुए श्रीराम के जन्म की संभावना सिद्ध की और उसमें "लीलावदात्मत्वात्" यह हेतु दिया, उसमें "लीला" शब्द किस अर्थ का वाचक है ? इच्छा का अथवा माया का ? इनमें प्रथम अर्थ इच्छा सम्भव नहीं है, क्योंकि यह अर्थ सिद्ध करने से वह हेतु "स्वरूपासिद्ध" होगा। क्योंकि श्रुति इच्छा को अन्तःकरण का धर्म प्रतिपादित करती है, आत्मा का नहीं।

आपने "मनो नेच्छावत् इन्द्रियत्वात्" इस अनुमान के आधार पर इच्छा के अन्तःकरण धर्म होने का निषेध किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें कोई बाधक तर्क नहीं है।

(अन्तःकरणवृत्तिवादियों का) यह तर्क कि इच्छा को अन्तःकरण धर्म मानने पर ज्ञान और प्रयत्न को भी अन्तःकरणवृत्ति स्वीकार करना पड़ेगा; फलतः परमात्मा की बात भी कोई नहीं कर सकता, ठीक नहीं है। क्योंकि इससे किसी प्रकार अनिष्ट नहीं होगा। परमात्मा का अस्तित्व अहं–प्रत्यय (जीव का कर्तृत्वादि अभिमान) और प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध होता है।

*न च 'अहं सुखीति प्रतीतिविरोधः' अध्यासत्वसिद्धेः। श्रुतिरपि अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति स्वप्रकाशमात्मानमहंप्रत्यये भासमानं प्रतिपादयति। अनुमानमपि, अन्तःकरणं स्वातिरिक्तद्रष्टृकम् दृश्यत्वात् देहवत्। विपक्षे जीवनाद्यभावो बाधकस्तर्कः। तथा च श्रुत्या प्रतिपादितं कामाश्रयत्वं मनसो युक्तमेव।*

*ननु 'तर्कोपगृहीताया एव श्रुतेः स्वार्थसाधकत्वमि'त्युक्तम्। सत्यम् श्रुतिसिद्धनिरंशस्य सर्वगतस्यासंगस्य विपक्षे परिणामगमनसम्बन्धाद्यसम्भवो बाधकस्तर्कः। किञ्चेन्द्रियत्वादित्यसिद्धो हेतुः। सुखादीनां साक्षिभास्यत्वात् करणेन मनसा असिद्धौ इन्द्रियत्वासिद्धेः।*

---

अन्यत्र (शरीरादि में) भी "अहं प्रत्यय" दृष्टिगोचर होता है– यह तर्क यदि आप करें, तो वह प्रत्यय अध्यासमात्र है। **अतस्मिन् तद्बुद्धिः** जो वह नहीं है, उसे वह समझना यह मिथ्याज्ञान ही अध्यास अथवा "अध्यारोप" है। शरीर में आत्माभिमान अध्यासमात्र = आरोप = मिथ्याज्ञान है। क्या अन्यत्र, शरीरादि में "अहं–प्रत्यय" को अध्यासमात्र समझना विपरीत नहीं होगा ? क्योंकि उसमें कोई बाधक नहीं है– यदि यह तर्क आप करें, तो "मम शरीरम्" इत्यादि ज्ञान उसमें बाधक हैं। यदि आप यह कहें कि (जिस प्रकार शरीरादि के अहं प्रत्यय में "मम शरीरम्" इत्यादि ज्ञान बाधक हैं, उसी प्रकार) जीवात्मा द्वारा परमात्मा के अहं प्रत्यय में "मम आत्मा" इत्यादि ज्ञान आपके लिए बाधक है। यह आपका कथन समीचीन नहीं होगा, क्योंकि "मम आत्मा" इस प्रयोग में "आत्मा" शब्द परमात्मा अर्थ का वाचक न होकर स्वरूपमात्र अर्थ का वाचक है। अतः उससे परमात्मा अर्थ की प्रतीति बाधित होगी, और जिस प्रकार **घटस्य स्वरूपम्** इस प्रयोग द्वारा घट और उसके स्वरूप में कोई भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार **मम आत्मा** इस प्रयोग द्वारा "अस्मत्" शब्द वेद्य जीव और उसके स्वरूप में कोई भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः "मम आत्मा"

*यदुक्तम् – "असमवायिकारणानिरूपणादि"त्यादि, तन्न । किं स्वपक्षमाश्रित्य एतच्चोद्यमुत उत्तरपक्षे ? नाद्यः, यद्यत् कार्यं तत् कारणत्रितयजन्यम्"इति व्याप्तेः संयोगान्तरजन्यज्ञाने तत्समवेतात्मसंयोगस्याऽसमवायिकारणत्वात् अप्रयोजको हेतुः। न द्वितीयः, सुखादीनां साक्षिभास्यत्वेन ज्ञानकरणमनसीन्द्रियत्वाभावादसिद्धेः। किं च – उपादानकारणान्निमित्तकारणसध्रीचीनात् कार्योत्पत्तौ सिद्धायां सत्यां कारणत्रयकल्पनायां गौरवप्रसंगात् प्रयोजनाभावाच्च नैष्टव्यमिति। तस्मात् स्वरूपासिद्धो हेतुः लीलावदित्यादि।*

---

इत्यादि प्रयोग जीवात्मा द्वारा परमात्मा के अहं प्रत्यय में बाधक नहीं है। इसीलिए मन इत्यादि को आत्मा नहीं समझना चाहिए।

अन्तःकरणवृत्तिवादियों के अनुसार सुख–दुःखादि धर्म अन्तः–करण के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं। "मैं सुखी हूँ (अहं सुखी) इस प्रकार की प्रतीति में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, क्योंकि वास्तविक रूप में आत्मा में सुख–प्रतीति अध्यासमात्र है। श्रुति और तर्क दोनों इसमें प्रमाण हैं। श्रुति कहती है– "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः" अर्थात् "यह पुरुष (जीवात्मा) स्वयं प्रकाश है" इस प्रकार श्रुति भी जीवात्मा को परमात्मा के "अहंप्रत्यय" का आभास कराती है। यह अनुमान भी अन्तःकरण को द्रष्टा होने की प्रतीति कराता है– **अन्तःकरणं स्वातिरिक्त–द्रष्टृकम्, दृश्यत्वात्, देहवत्** अर्थात् अन्तःकरण भी अपने से भिन्न का द्रष्टा है, क्योंकि वह उसी प्रकार दृश्य है, जिस प्रकार शरीर दृश्य है। किन्तु विपक्ष में यह तर्क है, क्योंकि देहवत् यह दृष्टान्त अव्याप्तिदोषग्रस्त है, देह में जीवन का अभाव उसमें बाधक है। श्रुति द्वारा मन को काम का आश्रय कहना युक्तिसंगत ही है।

आपका यह कथन कि तर्कसम्मत श्रुतिवाक्य ही (प्रमाणकोटि में मानते हुए वे ही) अभीष्ट प्रयोजन के साधक होते हैं, यह पूर्ण सत्य है। आप रावण की प्रार्थना के कारण निरंजन विशुद्धस्वरूप परमात्मा की

*य"च्चाऽवच्छिन्नस्ये"ति विकल्प्याऽऽद्ये सिद्धसाधनम् द्वितीये आकाशं व्यभिचारः, अवच्छिन्नस्यैवोत्पत्तेः स्वीकारात् इत्युक्तम्, तन्न। अवच्छिन्नेऽपि पारमार्थिकोत्पत्तेः निषिध्यमानत्वेनाऽव्यभिचारात्। ननु "अवच्छिन्नमपि पारमार्थिकमिति चेत् न। अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोर्विरुद्धयोरेकत्रावस्था-नानुपपत्तौ एकस्य मिथ्यात्वमवश्यं वक्तव्यमिति उपाधिग्रस्ता – वच्छिन्नस्यैव मिथ्यात्वादिति सर्वं समञ्जसम्। तस्माच्छ्रुतिसामान्यमिति सिद्धम्।*

---

मनुष्य योनि में उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं और उसमें पूर्वापरं चरतो भावयैतौ इत्यादि श्रुतिवचन प्रमाणकोटि में देते हैं। परन्तु तर्क इसमें बाधक है। क्योंकि श्रुति परमात्मा को निरंश (निष्कल), सर्वगत (सर्वव्यापी) और "असंग" सिद्व करती है। जो "निष्कल" है, उसमें विकार सम्भव नहीं। जो "सर्वव्यापी" है, उसमें क्रिया सम्भव नहीं और जो "असंग" है उसमें सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः उक्त तर्क परमात्मा के मनुष्यजन्म की सिद्धि में बाधक है।

और भी, आपने मनो नेच्छावत् इन्द्रियत्वात् इस अनुमान में "इन्द्रियत्वात्" यह जो हेतु दिया है, वह असिद्व है। क्योंकि सुख–दुःख इच्छा आदि गुण "साक्षि–भास्य" हैं, केवल परमात्मा द्वारा ही प्रकाश्य हैं, अन्तःकरण मन से उनकी सिद्धि नहीं होती, अतः मन का इन्द्रियत्व ही असिद्ध होने से यह हेतु व्यभिचरित है।

(आपने मन में अवस्थित इच्छा की नित्याऽनित्यता के विषय में उसकी नित्यता का निषेध करते हुए अनित्यता का इसलिए निषेध किया कि ) अन्तःकरणवृत्तिवादी इच्छा की उत्पत्ति के विषय में असमवायिकारण का निरूपण ही नहीं करते। यह समीचीन नहीं है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अपने पक्ष को लेकर यह हेतु दिया गया है अथवा द्वितीय पक्ष में। इनमें प्रथम पक्ष सम्भव ही नहीं है। क्योंकि किसी भी कार्य की उत्पत्ति में तीन कारण हैं– समवायि,

*तथा चायमर्थः सम्पन्नः – अजं विभुम् इत्यादद्युत्तरकोट्या ह्येतावान् सूचितो भवति। "स्वप्रकाशज्ञाननित्यसुखात्मकं निरवद्यं निरञ्जनं देशकालादिभिरनवच्छिन्नम् अनन्तं ब्रह्मैव मायया सर्वशक्तिसमन्वितं सर्वज्ञं*

---

असमवायि और निमित्त। जहाँ तीनों कारण होंगे, वहीं वह कार्य उत्पन्न होगा, इस व्याप्ति से अन्य संयोग का ज्ञान होगा और अन्य संयोग से उत्पन्न ज्ञान में उससे सम्बद्ध (समवेत) आत्मसंयोग असमवायिकारण होगा। इस प्रकार वह हेतु निरर्थक है। द्वितीय पक्ष में भी यह हेतु असिद्ध है क्योंकि सुख, दुःख इच्छा आदि साक्षिभास्य आत्मैकवेद्य हैं। अतः ज्ञान के करण मन में इन्द्रियत्व की सिद्धि नहीं है। साथ ही कार्योत्पत्ति में तीनों कारणों को स्वीकार करना समीचीन नहीं है, जबकि निमित्त कारण समन्वित उपादान कारण से कार्योत्पत्ति सिद्ध होती है। कारणत्रय की कल्पना में गौरवदोष है, और उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है। अतः "लीलावदात्मत्वात्" यह हेतु स्वरूपासिद्ध है।

आपने "विमतो नोत्पत्तियोन्यः विभुत्वात्" इत्यादि अनुमान में") दो विचार–बिन्दु सामने रखे कि "निरवच्छिन्न (सीमारहित) परमात्मा की उत्पत्ति सम्भव है अथवा अवच्छिन्न (सीमा में आबद्ध) परमात्मा की?" और इसमें प्रथम विकल्प को सार्थक मानते हुए द्वितीय विकल्प में "आकाशवत्" इस दृष्टान्त में यह अतिव्याप्ति दोष प्रदर्शित किया कि घटाकाश, मठाकाश की उत्पत्ति सम्भव है। परन्तु द्वितीय विकल्प में प्रदर्शित दोष भी वास्तविक नहीं है। क्योंकि वह उत्पत्ति भी प्रातिभासिक है, पारमार्थिक नहीं। यदि आप कहें कि वह उत्पत्ति भी पारमार्थिक है, तो वह सम्भव नहीं है। क्योंकि निरवच्छिन्न (सीमारहित) और अवच्छिन्न (सीमाबद्ध) इन दोनों परस्पर विरुद्ध परब्रह्म–परमात्मा की सत्ता एक साथ नहीं रह सकती इसलिए एक को अवश्य मिथ्या (अवास्तविक) स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः सगुण–साकार सोपाधिक परब्रह्म को अन्त में अवास्तविक मानना पड़ेगा। इस प्रकार सभी संगति ठीक बैठ

*सर्वकर्तृ–सर्वनियन्तृ–जगत्सृष्टिपालननिमित्तं नीलोत्पलश्या – मत्वादिविशेषणविशिष्टं ध्यात्वा पठेदि"ति। अत एव "भुक्तिं मुक्तिं च विन्दती"ति वदता उपासनावैशिष्ट्यं द्योतितं भवतीति सिद्धम्।।*

***इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणश्रीमद्भगवद्भक्त – भट्टमुद्गलाचार्यविरचिता रामरक्षाटीका समाप्ता।।***

---

जाती है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ अर्थान्तर प्रतीति हो वहाँ अर्थवाद मानकर उस अर्थ का परित्याग करते हुए श्रुति सामान्य को ग्रहण करना चाहिए।

फलतः "अजं विभुम्" इत्यादि उत्तरकोटि से यह पारमार्थिक अर्थ सूचित होता है कि जो स्वयं चित्प्रकाशस्वरूप नित्य सुखमय निरवद्य (दोषरहित) निरंजन (निरंश, निष्कल अथवा पूर्ण) देश–काल आदि परिधि से मुक्त अनन्त ब्रह्म है, वही स्वमाया, अपनी लीला से सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न सर्वज्ञ सर्वकर्ता सभी का नियामक जगत् की सृष्टि और पालन का निमित्त है। "नीलोत्पल–श्याम", "राजीवलोचन", "जटामुकुटमण्डित" आदि विशेषणसम्पन्न श्रीराम का ध्यान करना चाहिए और तदनन्तर श्रीरामरक्षास्तोत्र का पाठ करना चाहिए। अतएव ("रामेति रामभद्रेति" इत्यादि मंत्र में) "भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति" कहते हुए बुधकौशिक ने उपासना की विशेषता को प्रकाशित किया है– यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार पद (व्याकरण) वाक्य (मीमांसा) और प्रमाण (न्यायदर्शन) आदि शास्त्र–सागर के संतरणकर्ताओं में अग्रणी भगवद्भक्त भट्ट श्रीमुद्गलाचार्य द्वारा विरचित श्रीरामरक्षास्तोत्र की टीका पूर्ण हुई।।

## *(अवशिष्टं स्तोत्रम्)*

आदिष्टवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः ।
तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः[1] ।।१५।।

आरामः कल्पवृक्षाणां विरामः सकलापदाम् ।
अभिरामस्त्रिलोकानां रामः श्रीमान् स नः प्रभुः ।। १६ ।।

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।।१७।।

---

## *अवशिष्ट स्तोत्रार्थ*

*भगवान् शंकर ने जिस क्रम से स्वप्नावस्था में श्रीरामरक्षास्तोत्रमंत्र का उपदेश दिया, प्रातः उसी क्रम से प्रबुद्ध (जाग्रतावस्था में अवस्थित बुधकौशिक (तत्त्वार्थदर्शी विश्वामित्र) महर्षि ने उस स्तोत्र को लिपिबद्ध किया।। १५ ।।*

*भगवान् रामचन्द्र की स्तुति करते हुए महर्षि कहते हैं कि श्रीराम सम्पूर्ण अभीष्ट मनोरथों की पूर्ति करने के कारण समस्त कल्पवृक्षों के उपवन हैं, सम्पूर्ण विपत्तियों के विश्रामस्थान हैं, स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोकों में सर्वातिशायी लावण्यसंपन्न हैं। सीता के रूप में अवतीर्ण श्रीलक्ष्मी के पति हमारे स्वामी हैं।।१६ ।।*

*राम और लक्ष्मण ये दोनों दशरथ के पुत्र और परस्पर भाई हैं। ये दोनों युवा, सौन्दर्यसम्पन्न, अत्यंत कोमल, महाबलशाली हैं। इनके विशाल नेत्र कमल के समान हैं। मेरे विश्वामित्र के साथ*

---

१. आनन्दरामायणसम्मतरामरक्षास्तोत्रं इतः परं श्लोकानां पौर्वापर्यक्रमो भिन्नः।

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ[1] दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ[2]।।१८।।
शरण्यौ सर्वसत्त्वानां श्रेष्ठौ सर्वधनुष्मताम्।
रक्षःकुलनिहन्तारौ त्रायेतां नो रघूत्तमौ।।१६।।
आत्त[3]सज्ञधनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्गसङ्गिनौ।
रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतः पथि सदैव गच्छताम् ।।२०।।

---

*रहते हुए कन्दमूल फल का आहारग्रहण और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ये दोनों अत्यंत उदार और तपोनिष्ठ हैं।। १७, १८।।*

*सभी शरणागत प्राणियों के आश्रयस्थान सभी धनुर्धारी वीरों में श्रेष्ठ, राक्षसों के कुल का संहार करने वाले रघुवंशियों में उत्तम (ये दोनों राम और लक्ष्मण) हमारी रक्षा करें।। १६ ।।*

*(विश्वामित्र ऋषि कामना करते हैं कि) प्रत्यंचा पर आकृष्ट धनुष को धारण कर शर–सन्धान की मुद्रा में अवस्थित, अक्षय तीव्रगामी बाणों को तरकश में (पीठ पर) वहन करते हुए ये दोनों राम और लक्ष्मण मेरी रक्षा करने के लिए सदा मार्ग में (मेरे) आगे ही चलें ।।२०।।*

---

१. तुलनीयम्–
प्रत्युवाच मुनिः प्रीतो हर्षयन् जनकं तदा।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।।
मखसंरक्षणार्थाय मयाऽनीतौ पितुः पुरात् । (अध्यात्म रा. १/६/१०–११)

२. इतोऽग्रे आनन्दरामायणे अयमधिकः श्लोकः–
"धन्विनौ बद्धनिस्त्रिंशौ काकपक्षधरौ श्रुतौ।
वीरौ मां पथि रक्षेतां तावुभौ रामलक्ष्मणौ।।"

३. "सज्य" इति प्रतिभाति।

सन्नद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा।
गच्छन् मनोरथोऽस्माकं रामः पातु सलक्ष्मणः।।२१।।
रामो दाशरथिः शूरो लक्ष्मणानुचरो बली।
काकुत्स्थः पुरुषः पूर्णः कौसलेयो रघूत्तमः[१]।।२२।।
वेदान्तवेद्यो यज्ञेशः पुराणपुरुषोत्तमः।
जानकीवल्लभः श्रीमानप्रमेयपराक्रमः।।२३।।
इत्येतानि जपन्नित्यं[२] मद्भक्तः श्रद्धयाऽन्वितः।
अश्वमेधाधिकं पुण्यं संप्राप्नोति न संशयः।।२४।।

---

*(राक्षसों के विनाश के लिए सदा) सन्नद्ध ढाल (कवच), तलवार, धनुष–बाण को धारण करते हुए युवक श्रीरामजी लक्ष्मण के साथ मन के रथ पर आरुढ़ होकर उससे भी वेगपूर्वक चलते हुए हमारी रक्षा करें।।२१।। (यह सिद्ध मंत्र हैं। इसका जप करते हुए यात्रा करने वाले के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण होते हैं।)*

*कौसल्या और दशरथ के पुत्र ककुत्स्थ राजा के वंशज रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी शूरवीर, बलशाली और पूर्णपुरुष हैं। श्रीलक्ष्मण उनके अनुचर हैं ।।२२।।*

*एकमात्र वेदान्तशास्त्र से साक्षात्कार योग्य यज्ञों के संरक्षक उनके स्वामी सीतापति श्रीरामजी पुराणपुरुषों में श्रेष्ठ हैं। उनका पराक्रम सामान्य रूप से जाना नहीं जा सकता। वे केवल वेदान्त–शास्त्राध्ययन से ही वेद्य (साक्षात्कार योग्य) हैं।।२३।।*

---

१. कौसल्येयो रघूत्तमः, कौसल्यानन्दवर्धनः – पा.
२. जपेत्–पा.

रामं दूर्वादलश्यामं पद्माक्षं पीतवाससम्।
स्तुवन्ति नामभिर्दिव्यैर्न ते संसारिणो नराः[1]।।२५।।
रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापतिं सुन्दरं
काकुत्स्थं करुणार्णवं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम्।
राजेन्द्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्ति
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम् ।।२६।।
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ।। २७।।

---

*इन नाममंत्रों का श्रद्धायुक्त होकर नित्य जप करते हुए मेरा भक्त अश्वमेधादि अनुष्ठान का पुण्यफल प्राप्त करता हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।।२४।।*

*जो दूर्वादल के समान श्यामवर्ण कमलनयन पीताम्बरधारी रामजी की स्तुति दिव्य नाम–संकीर्तन पूर्वक करते हैं, वे संसरणशील नहीं रहते, संसार के जन्म–मरण चक्र में नहीं पड़ते। (अपितु मुक्त होते हैं)।।२५।।*

*मैं लक्ष्मण के अग्रजन्मा रघुकुलश्रेष्ठ सीतापति. सुन्दर ककुत्स्थ के वंशज, करुणासागर, गुणों के निधि, ब्राह्मणों के प्रियपात्र धर्मात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, श्यामवर्ण, त्रिभुवन में अत्यंत लावण्यसंपन्न, राक्षसराज रावण के शत्रु राजाधिराज श्रीरामजी की वन्दना करता हूँ ।। २६।।*

*ये नाम मंत्र हैं। इनके साथ "नमः" लगाकर जपविधान का संकेत*

---

१. नरः –पा.

श्रीराम राम रणकर्कश राम राम,
श्रीराम राम भरताग्रज राम राम ।
श्रीराम राम रघुनन्दन राम राम
श्रीराम राम शरणं भव राम राम ।। २८।।
श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि।
श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ।।२६।।
माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।

---

*इस पद्य में संकेतित है। इस पद्य का सामान्य अर्थ यह है – मैं राम को नमस्कार करता हूँ, रामभद्र को नमस्कार करता हूँ, रामचन्द्र को नमस्कार करता हूँ, वेधा को नमस्कार करता हूँ, रघुनाथ को नमस्कार करता हूँ, नाथ को नमस्कार करता हूँ और सीतापति को नमस्कार करता हूँ ।।२७।।*

*युद्धभूमि में कठोर व्यवहार करने वाले भरत के अग्रज बन्धु रघुकुल को आनन्दित करने वाले श्रीराम ! आप मेरे लिए शरणस्थान हैं। (अन्य नाम संकीर्तन के लिए हैं।) ।।२८।।*

*मैं श्रीरामचन्द्र जी के चरणों का मन से स्मरण करता हूँ। उन चरणों की स्तुति वाणी से करता हूँ। उन चरणों की वन्दना शिर से करता हूँ। उन चरणों को अपना आश्रय बनाता हूँ ।।२६।।*

*श्रीरामजी ही मेरी माता हैं। वे ही मेरे पिता हैं। वे ही मेरे स्वामी*

सर्वस्य मे रामचन्द्रो दयालु –
नान्यं जाने नैव जाने न जाने ।।३०।।
दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ।।३१।।
लोकाभिरामं[1] रणरङ्गधीरं राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम्।
कारुण्यरूपं[2] करुणाकरं तं श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये ।।३२।।

---

*है। वे ही मेरे मित्र भी हैं। रामचन्द्र जी मेरे सर्वस्व हैं। वे परम दयालु हैं। मैं उनके अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता, नहीं जानता, नहीं जानता। (इस पद्य का चतुर्थ चरण रामजी के प्रति दृढ़ भक्ति का द्योतक है।) ।।३०।।*

*जिनकी दाहिनी ओर लक्ष्मण, बायीं ओर जानकी जी हैं, तथा सामने पवनतनय हनुमान् जी हैं मैं उन रघुनन्दन रामजी की वन्दना करता हूँ ।।३१।।*

*मैं त्रिभुवन–सुन्दर, रणभूमि में धैर्यसम्पन्न, कमल–नयन रघुवंश के स्वामी कारुण्यमूर्ति परम–दयालु भगवान् रामचन्द्र ही की शरण में जाता हूँ ।।३२।।*

*(मैं) मन से भी तीव्रगतिशाली, वायु के समान वेगगामी, जितेन्द्रिय,*

---

१. इतः पूर्वम् आनन्दरामायणसम्मतरामरक्षांया "गोष्पदीकृतवारीशम्" इत्यादि, "अघौघतिष्ठे"त्यादि च पद्यद्यम् अधिकं दृश्यते।

२. मूर्तिं – पा.

मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये[1]।।३३।।
[2]कूजान्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम[3]।।३४।।

---

*ज्ञानियों में अग्रणी, पवनतनय वानरों की सेना के सेनापति, श्रीरामजी के दूत हनुमानजी की शरण में जाता हूँ ।।३३।।*

*मैं कविता लता की शाखा पर आरूढ़ होकर "राम–राम" इस प्रकार अत्यन्त मधुर कूजन करने वाले कोकिल स्वरूप आदिकवि*

---

१. इतं परं "राम रामे" त्यादि पद्यचतुष्टयमानन्दरामायणेऽधिकम्।
अत्र स्थितेन "एवं गिरीन्द्रजे प्रोक्ता रामरक्षा मया तव।
मयोपदिष्टा "या स्वप्ने विश्वामित्राय वै पुरा।।"
इति श्लोकेन ज्ञायते यत् "रामरक्षास्तोत्रसाक्षात्कारकर्ता बुधकौशिकः विश्वामित्र एवे"ति।

२. ततोऽधिकः पाठः–

(१) जयति रघुवंशतिलकः कौसल्याहृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ।।
(अध्यात्म रा. उत्तर का. १/१)

(२) कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासितं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हसताम्बुजं जानुनी।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तं मुकुटांगदादिविविधाकल्पोज्ज्वलांगं भजे ।।

(३) सजलजलदधीरध्वानमादाय चापं
पवनसदृशवेगं बाणमाकृष्य तूणात्।
अभयवचनदायी सानुजः सर्वतो मे
रणहतदनुजेन्द्रो रामचन्द्रः सहायः।।

३. नास्ति आनन्दरामायणे।

आपदामपहर्त्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्[1] ।।३५।।
भर्जनं भावबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्।
तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम्[2] ।।३६।।

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं ।
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम! मामुद्धर[3] ।।३७।।

---

*वाल्मीकि की वन्दना करता हूँ ।।३४।।*

*(मैं) समस्त आपदाओं का अपहरण करने वाले और सभी सम्पदाओं को प्रदान करने वाले त्रिभुवनसुन्दर श्रीरामजी को बार–बार प्रणाम करता हूँ। ३५।*

*संसारवृक्ष के (जन्ममरण के) बीजों को भर्जन करने वाला (भूज देने वाला), समस्त सुख–सम्पत्तियों का अर्जन करने वाला और यमदूतों को भी धमकाने वाला एकमात्र उपाय है राम–राम की गर्जना करना ।।३६।।*

*राजाओं के मुकुटमणि रामचन्द्र जी की सदा विजय हो। मैं (सीता के रूप में अवतीर्ण) रमा (लक्ष्मी) के पति रामचन्द्र जी का भजन करता हूँ। जिस रामजी ने सम्पूर्ण राक्षस सेना का विनाश*

---

१. नास्ति आनन्दरामायणे।
२. नास्तिं आनन्दरामायणे।
३. नास्ति आनन्दरामायणे।
(इस पद्य में 'राम' शब्द की सभी विभक्तियों के रूप में प्रदर्शित हैं।)

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने[1] ।।३८।।

*हे वरानने इति पार्वतीं प्रति शिवस्योक्तिः। रामराः – राम एव राः धनं यस्य एतादृशोऽहम् अतिरामे–रामां = मायाम् अतिक्रान्ते, मनोरमे = निर्वृत्तिकस्य अज्ञानानावृतस्य मनसः अखण्डानन्दद यिनि, रामे = सच्चिदानन्दरूपे, अतिरमे = अतिशयेन केवलभावेन रमे*

---

***किया है, उस रामजी को मेरा नमस्कार है। मैं रामजी का दास हूँ। मेरे अन्तःकरण का विलय सदा–सर्वदा रामजी में हो। हे राम! तुम मेरा उद्धार करो।।३७।।***

***भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं कि हे सुन्दर मुख से सुशोभित पार्वती; मैं "राम राम राम" इस प्रकार अत्यन्त मनोरम राम में ही (सदा–सर्वदा) रमण करता हूँ। क्योंकि एक राम नाम हजारों नाम मंत्रों के बराबर है। अर्थात् एक राम नाम से जो फल प्राप्त होता है, वह हजारों नामोच्चारण के बराबर है।।३८।।***

केशव संस्कृत ग्रन्थमाला के मंगल पुष्पस्वरूप १९९५ विक्रम संवत्सर में प्रकाशित रामरक्षास्तोत्र में यह टिप्पणी उपलब्ध है। इस संस्कृत टिप्पणी के अनुसार इस पद्य को इस प्रकार पढ़ना चाहिए–

"राम रामेऽतिरामेऽति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनाम तत् तुल्यं रामनाम वरानने!।।"

तदनुसार इसकी ज्ञानकाण्डानुसारिणी व्याख्या इस प्रकार होगी–

"हे वरानने" इस प्रकार पार्वती के प्रति भगवान् शिव सम्बोधन करते

---

१. नास्ति आनन्दरामायणे।

*तद्भावमपरित्यजन्नेवास्मि। तत् = पूर्वोक्तं रामनाम "राम एवास्मी"ति केवलभावेनावस्थानं, सहस्रनाम च = अनन्तवृत्तिषु राम एवास्ती"ति च, मे = मम, तुल्यम्" इति ज्ञानकाण्डानुसारी अर्थः। उपासनानुसारी तु स्पष्ट एवेति न विस्तृत इति ।।३८।।*

*।। इति श्रीबुधकौशिकविरचितं श्रीरामरक्षास्तोत्रं सम्पूर्णम्।।*

---

हुए कहते हैं कि "राम–राः" = राम एव राः (धन) यस्य सः राम को ही अपना धन माननेवाला मैं, अतिरामे = माया से परे, "मनोरमे" = सम्पूर्ण वृत्तियों से रहित अज्ञान से अनावृत मन को अखण्ड आनन्द प्रदान करने वाले, रामे = सच्चिदानन्द स्वरूप तुरीय ब्रह्मस्वरूप श्रीराम में, "अतिरमे" = अत्यन्त रमण करता हूँ। रामभाव का परित्याग कभी न करते हुए केवल उसी में अपने चित्त को विलीन करता हूँ। तत् = जिसमें मैं स्वयं को रामस्वरूप समझता हूँ और "मैं" राम ही हूँ, राम से अभिन्न हूँ" इस प्रकार कैवल्यभाव से रहता हूँ, वह रामनाम, सहस्रनाम च = और अनन्त वृत्तियों में रहकर सम्पूर्ण जगत् राममय है इस प्रकार का राम नाम, "मे" = मेरे लिए "तुल्यं" मतम्" = समान कोटि के हैं।

यह इस पद्य का ज्ञानकाण्डानुसारी अर्थ है। उपासनाकाण्ड के अनुकूल अर्थ हिन्दी में पूर्व निरूपित है। संस्कृत टिप्पणीकर्ता ने सरल समझकर इसको स्पष्ट नहीं किया है।।३८।।

इस प्रकार श्रीबुधकौशिक विश्वामित्र ऋषि द्वारा विरचित श्रीरामरक्षास्तोत्र सम्पूर्ण होता है।।

परिशिष्ट—(१)

# आनन्दरामायणसम्मतं रामरक्षास्तोत्रम्

## जन्मकाण्डे पञ्चमः सर्गः

विष्णुदास उवाच —

श्रीरामरक्षया प्रोक्तं कुशाय ह्यभिमंत्रणम्।
कृतं तेनैव मुनिना गुरो तां मे प्रकाशय।।१।।
रामरक्षां वरां पुण्यां बालानां शांतिकारिणीम्।

श्रीशिव उवाच —

इति शिष्यवचः श्रुत्वा रामदासोऽब्रवीद् वचः।।२।।

श्रीरामदास उवाच —

सम्यक् पृष्टं त्वया शिष्य रामरक्षाऽधुनोच्यते।।
या प्रोक्ता शंभुना पूर्वं स्कंदार्थं गिरिजां प्रति।।३।।

श्रीशिव उवाच —

देव्यद्य स्कंदपुत्राय रामरक्षाभिमंत्रणम्।।
कुरु तारकघाताय समर्थोऽयं भविष्यति।।४।।
इत्युक्त्वा कथयामास रामरक्षां शिवः स्त्रियै।।
नमस्कृत्य रामचंद्रं शुचिर्भूत्वा जितेन्द्रियः ।।५।।

।।श्रीरामरक्षास्तोत्रम्।।

अथ ध्यानम्

वामे कोदण्डदण्डं निजकरकमले दक्षिणे बाणमेकं
पश्चाद्भागे च नित्यं दधतमभिमतं सासितूणीरभारम्।
वामेऽवामे वसद्भ्यां सह मिलिततनुं जानकीलक्ष्मणाभ्यां
श्यामं रामं भजेऽहं प्रणतजनमनःखेदविच्छेददक्षम्।।६।।

अस्य श्रीरामरक्षास्तोत्रमंत्रस्य बुधकौशिक ऋषिः, श्रीरामचंद्रो देवता रां इति बीजम्, अनुष्टुप् छंदः, श्रीरामप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।।

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।।७।।

ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम् ।।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम् ।।८।।
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तञ्चरांतकम् ।
स्वलीलया जगत् त्रातुमाविर्भूतमजं विभुम् ।
रामरक्षां पठेत् प्राज्ञः पापघ्नीं सर्वकामदाम् ।।६।।
शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः ।
कौसल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती ।।१०।।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रवत्सलः ।।
जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः ।।११।।
स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुकः ।
करौ सीतापतिः पातु ह्वदयं जामदग्न्यजित् ।।१२।।
पार्श्वे रघुवरः पातु कुक्षी इक्ष्वाकुनन्दनः ।।
मध्यं पातु खरध्वंसी नाभिं जाम्बवदाश्रयः ।।१३।।
सुग्रीवेशः कटिं पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः ।
ऊरू रघूत्तमः पातु गुह्यं रक्षःकुलांतकृत् ।।१४।।
जानुनी सेतुकृत् पातु जंघे दशमुखान्तकः ।।
पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः ।।१५।।
एतां रामबलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत् ।
स चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत् ।।१६।।
पातालभूतलव्योमचारिणश्छद्मचारिणः ।
न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामभिः ।।१७।।
रामेति रामभद्रेति रामचंद्रेति वा स्मरन् ।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ।।१८।।
जगज्जेत्रैकमंत्रेण रामनाम्नाऽभिरक्षितम् ।
यः कण्ठे धारयेत् तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः ।।१६।।
वज्रपञ्जरनामेदं यो रामकवचं पठेत् ।।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमंगलम् ।।२०।।
आदिष्टवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः ।
तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः ।।२१।।

रामो दाशरथिः शूरो लक्ष्मणानुचरो बली।
काकुत्स्थः पुरुषः पूर्णः कौसल्यानंदवर्धनः।२२।।
वेदांतवेद्यो यज्ञेशः पुराणपुरुषोत्तमः।
जानकीवल्लभः श्रीमानप्रमेयपराक्रमः।२३।।
इत्येतानि जपेन्नित्यं मद्भक्तः श्रद्धयाऽन्वितः।
अश्वमेधायुतं पुण्यं संप्राप्नोति न संशयः।।२४।।
सन्नद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा।
गच्छन् मनोरथोऽस्माकं रामः पातु सलक्ष्मणः।।२५।।
तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ।
पुंडरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनांबरौ।।२६।।
फलमूलाशनौ दांतौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।।२७।।
धन्विनौ बद्धनिस्त्रिंशौ काकपक्षधरौ श्रुतौ।
वीरौ मां पथि रक्षेतां तावुभौ रामलक्ष्मणौ।।२८।।
शरण्यौ सर्वसत्त्वानां श्रेष्ठौ सर्वधनुष्मताम्।।
रक्षःकुलनिहंतारौ त्रायेतां नो रघूत्तमौ।।२६।।
आत्तसज्जधनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्गसंङ्गिनौ।
रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतः पथि सदैव गच्छताम्।।३०।।
आरामः कल्पवृक्षाणां विरामः सकलापदाम्।।
अभिरामस्त्रिलोकानां रामः श्रीमान् स नः प्रभुः।।३१।।
रामाय रामभद्राय रामचंद्राय वेधसे।।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः।।३२।।
श्रीराम राम रघुनंदन राम राम
श्रीराम राम भरताग्रज राम राम।।
श्रीराम राम रणकर्कश राम राम
श्रीराम राम शरणं भव राम राम।।३३।।
लोकाभिरामं रणरङ्गधीरं राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम्।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तं श्रीरामचंद्रं शरणं प्रपद्ये।।३४।।
दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा।

पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनंदनम्।।३५।।
गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वंदेऽनिलात्मजम्।।३६।।
अघौघ तिष्ठ दूरे त्वं रोगास्तिष्ठन्तु दूरतः।
वरीवर्त्ति सदाऽस्माकं हृदि रामो धनुर्धरः।।३७।।
मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये।।३८।।
राम राम तव पादपंकजं चिन्तयामि भवबन्धमुक्तये।
वंदितं सुरनरेंद्रमौलिभिर्ध्यायितं मनसि योगिभिः सदा।।३९।।
रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापतिं सुन्दरं
काकुत्स्थं करुणार्णवं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम्।
राजेंद्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शांतमूर्तिं
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम्।।४०।।
एतानि रामनामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
अपुत्रो लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम्।।४१।।
माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचंद्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।।४२।।
श्रीरामनामामृतमन्त्रबीजसञ्जीवनी चेन्मनसि प्रविष्टा।
हालाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भीः।।४३।।
[१]श्रीशब्दपूर्वं जयशब्दमध्यं जयद्वयेनापि पुनः प्रयुक्तम्।।
त्रिःसप्तकृत्वो रघुनाथनामजपन्निहन्याद् द्विजकोटिहत्याः।।४४।।
एवं गिरीन्द्रजे प्रोक्ता रामरक्षा मया तव।
मयोपदिष्टा या स्वप्ने विश्वामित्राय[२] वै पुरा।।४५।।

रामदास उवाच —

इति शिवेनोपदिष्टां श्रुत्वा देवी गिरीन्द्रजा।
रामरक्षां पठित्वा सा स्कन्दं समभिमंत्रयत्।।४६।।

---

१. श्रीराम जय राम जय जय राम इति रामदासानां मुख्यो मंत्रः।।
२. या स्वास्यैर्विश्वामित्राय इति पाठः।

तस्यास्तेजोबलेनैव जघान तारकासुरम् ।।
षडाननः क्षणादेव कृतकृत्योऽभवत् पुरा ।।४७।।
सैवेयं रामरक्षा ते मया ख्याताऽतिपुण्यदा ।
यस्याः श्रवणमात्रेण कस्यापि न भयं भवेत् ।।४८।।
वाल्मीकिनाऽनया पूर्वं कुशाय ह्यभिषेचनम् ।
कृतं बालग्रहाणां च शांत्यर्थं सा मयोदिता ।।४६।।
बालानां ग्रहशांत्यर्थं जपनीया निरन्तरम् ।।
रामरक्षा महाश्रेष्ठा महाघौघनिवारिणी ।।५०।।
नास्याः परतरं स्तोत्रं नास्याः परतरो जपः ।
नास्याः परतरं किञ्चित् सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।५१।।

।।इति श्रीशतकोटिरामचरितांतर्गतश्रीमदानन्दरामायणे
वाल्मीकीये जन्मकांडे रामरक्षाकथनं नाम पंचमः सर्गः ।।५।।

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य सप्तशताब्दी महोत्सव के पावन प्रसंग पर पूज्य पितामह स्व० नागेन्द्र नारायण सिंह की पुण्य स्मृति में वेदव्यास पुत्र श्री चन्द्रभूषण नारायण सिंह ग्रा०-पो० छितनौर जिला बेगूसराय, बिहार के सौजन्य से प्रकाशित।



श्रीमठ

जगद्गुरु-रामानन्दाचार्य पीठ

पंचगंगा, काशी, वाराणसी

मुद्रकः खण्डेलवाल प्रेस, मानमंदिर, वाराणसी दूरभाष : ३१२२८७, ३२६११२